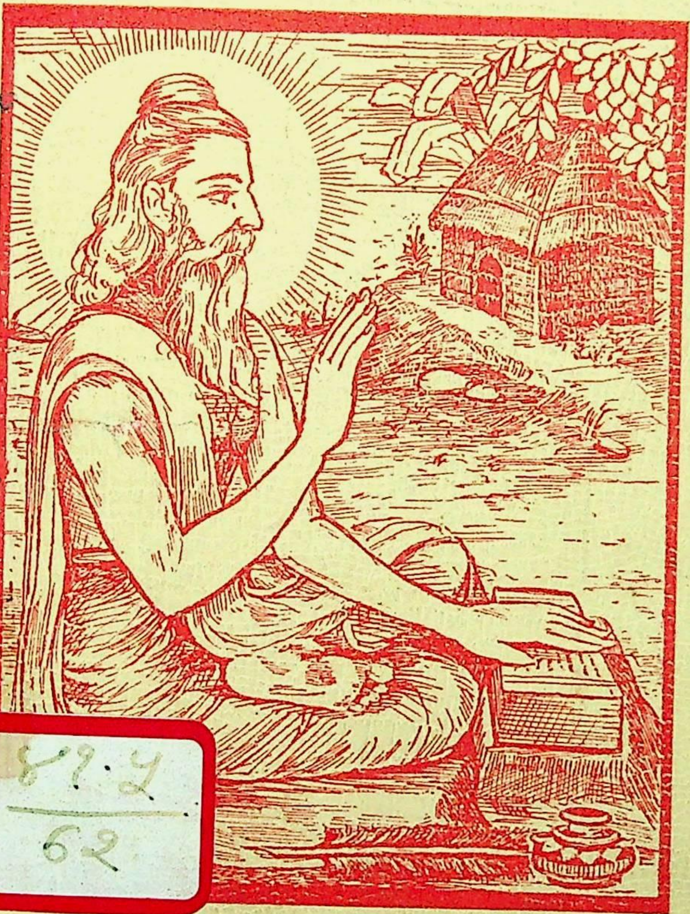
श्री महाभारत सुधासागर

(वचनामृत)



कौटुम्बिक प्रेम तथा कर्त्तव्य

पं० आचा

२०, ... जयपुर

प्रथमवार-२१००] [मूल्य १ रु० २५ पैसे

कौटुम्बिक प्रेम एवं कर्त्तव्य

भूमिका लेखक

डॉ० मथुरालाल शर्मा, एम.ए., डी.लिट्

भूतपूर्व–उपकुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय (जयपुर)

लेखक

सूर्यनारायण एम.ए., साहित्यरत्न

प्रकाशक

युग–निर्माण–साहित्यागार

२०, नथमलजी का कटला, आगरा रोड,

जयपुर

प्रथमवार–२१००] [मूल्य १ रु० २५ पैसे

विषयानुक्रमणिका

शुद्धि–पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
१	२	मन्वशासच्छतक्रतु	मन्वशासमच्छतक्रतुः
२	१९	एवाश्रमात्रय:	एवाश्रमास्त्रयः
३	१९	पछिताइ उर	पछिताइ
४	५	मिथ्याप्रवृ	मिथ्याप्रवृत्ते पि
७	२	कुर्याति	कर्माति
७	११	प्रस्वयेत	प्रस्वपेत
७	१३	पीड़येत्	पीडयेत्
७	२१	यच्छेत स्वप्ने	यच्छेत् स्वप्ने
२४	३	भूतले	भूतये
२४	८	उपाध्यायात्	उपाध्यायान्
२४	९	सर्वा	सर्वां
२४	१६	सर्वैंषामेव	सर्वैंषामेव
२४	१७	कूचन	क्वचन
२४	१८	अदि०	आदि०
२५	१	निपीडिता	निपीडिता:
२५	७	स्यात्	स्याद्
२५	७	पिवेत्	गिवेत्
२५	१३	पश्यश्च	पथ्यश्च
२६	७	महद्भुतम्	महदद्भुतम्
२६	१०	स	सः
२७	१५	सुपुत्रदारः	सपुत्रदारः
२८	३	ताभ्यामनिन्दितः	ताभ्यामनिन्दित
२८	४	वेदोचारण	वेदोच्चारण
२८	५	शोकेन्	शोकेन
२८	५	तावान्वीभूतौ	तावन्वीभूतौ
३२	२	निश्चय	निश्चयः
३६	६	विषित्वा	विदित्वा
३६	८	भिन्ननामुतुलो	भिन्नानामतुलो
३७	२	जड़	जडः
३८	४	माग नहीं	माग
३९	५	आश्रम	आश्रय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप
३९	८	भातृ	भ्रातृ
४०	१	भातृप्रेम	भ्रातृप्रेम
४१	१	भ्रातुविहीनस्य	भ्रातृविहीनस्य
४४	८	बलवान	बलवान्
४४	९	स स्कन्धो	सस्कन्धो
४६	१०	वावत	गावत
४७	१५	पतिव्रत्य	पातिव्रत्य
४७	२३	स्वर्गा	स्वर्गो
४८	५	दानेश्च	दानैश्च
४८	११	नव	नैव
४८	१९	घर्मः	धर्मः
४९	१०	पूजन्ते	पूज्यन्ते
४९	११	यत्रेताः	यत्रैताः
४९	१	क्रिया	क्रियाः
४९	१२	जामय	जामयः
४९	१४	वधन्ते	वर्धन्ते
४९	१४	पार्थिवः	पार्थिव
४९	१५	अतुशा० ४६।११ ॥)	अनुशा० ४६।५–७
५०	९	एता	एताः
५०	१०	श्रीः	श्रीः स्त्री
५०	१५	भाण्डामनवेस्यकारिणीं	भाण्डामनवेस्यकारिणीं
५०	१५	च	च भर्तुः
५०.	१७	पापामघोक्षामवलेहिनीं	पापामचक्षामवलेहिनीं
५०	१७	कलप्रियां	कलहप्रियां
५०	१८	शमानामेवंविधां	शयानामेवंविधां
५१	१४	कदाचिन्नाहमबुवम्	कदाचिन्नाहयब्रुवग्
५१	१८	श्वश्रू श्वशुरवतिनी	श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी
५२	२०	निवेशिना	निवेशना
५२	२६	बहुभियुक्ता	बहुभियुक्ता
५३	१०	कुमारी	कुमारीं
५३	१५	भिक्षांदघां	भिक्षांदद्यां
५३	१५	द्विजार्तिषु	द्विजातिषु

श्री महाभारत सुधासागर पर कुछ सम्मतियाँ

(२४)❀

जयपुर

राजस्थान

दिनाङ्क १३-२-६८

"श्री महाभारत सुधासागर" जिस रूप में लिखा गया है, अपनी भाषा की सरलता एवं कथावस्तु के कारण जन-साधारण एवं विशेषत: विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

राव धीरसिंह

उप–मन्त्री शिक्षा

❀ **डॉ० मथुरालाल शर्मा**, एम. ए., डी. लिट्. (भूतपूर्व उप-कुलपति, राजस्थान विश्व विद्यालय द्वारा लिखित भूमिका एवं निम्न २३ शिक्षा एवं साहित्य मर्मज्ञों की प्राप्त सम्मतियाँ इस ग्रन्थ के **'भगवान के अवतार'** नामक भाग में देखने का कष्ट स्वीकार करें : १. **श्री मेघराज मुकुल**, उप शासन सचिव, शिक्षा विभाग एवं निर्देशक भाषा विभाग (राजस्थान सरकार); २. **श्री लक्ष्मीलाल जोशी**, अध्यक्ष माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, राजस्थान; ३. **श्री के० माधवकृष्ण शर्मा**, निदेशक, संस्कृत शिक्षा, राजस्थान सरकार; ४. **श्री नाथूराम खड़गावत**, निदेशक, राज्य–अभिलेखागार, राजस्थान सरकार; ५. **डॉ० पुरुषोत्तमलाल भार्गव**, आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग राजस्थान विश्व विद्यालय; ६. **डॉ० सत्येन्द्र**, आचार्य तथा अध्यक्ष,

मैंने श्री सूर्यनारायण एम. ए. द्वारा लिखित **"श्री महाभारत सुधा सागर"** का अध्ययन किया है। विद्वान् लेखक ने अपनी सतत् साधना और अध्यवसाय के द्वारा महाभारत जैसे महान् ग्रन्थ को लोकोपयोगी बनाने की दिशा में जो महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है—वह अत्यन्त प्रशंसनीय है।

भारतीय संस्कृति के बहुमूल्य तत्त्वों को इस प्रकार की सरल और सरस पद्धति में प्रस्तुत करने की इस समय बहुत अधिक आवश्यकता है। मैं लेखक के इस परिश्रम की हृदय से प्रशंसा करता हूँ।

डॉ० मण्डन मिश्र

१७–२–६८

निदेशक–श्री लालबहादुर शास्त्री, राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

महामन्त्री–अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य मम्सेलन, दिल्ली

हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय; ७. **डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डे,** अध्यक्ष, इतिहास एवं भारतीय–संस्कृति–विभाग, राजस्थान विश्व विद्यालय, ८. **श्री विद्याधर शास्त्री,** निदेशक, हिन्दी विश्वभारती, शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर; ९. **श्रीयुत् रामधारी सिंह 'दिनकर'** १०. **डॉ० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'** राजस्थान विश्वविद्यालय; ११. **डॉ० स्वर्णलता,** प्रधानाचार्य, महारानी सुदर्शना महाविद्यालय, बीकानेर; १२. **श्री जे० के० शुक्ल** अध्यक्ष टीचर ऐजूकेशन N. C. E. R. T. नई दिल्ली; १३. **श्री नरोत्तम स्वामी,** कुलपति भारतीय विद्या मन्दिर, बीकानेर तथा पीठाधिपति राजस्थानी ज्ञानपीठ, बीकानेर; १४. **श्री अगरचन्द नाहटा,** अध्यक्ष सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीच्यूट, बीकानेर; १५. **श्री हनुमानप्रसाद जी पोद्दार,** सम्पादक **'कल्याण'**; १६. **पं० गिरिराज शर्मा,** सम्पादक

"श्रीसूर्यनारायण जी एम० ए०, साहित्यरत्न द्वारा संकलित महाभारत के सिद्धान्त और नीति एवं कथा भाग सम्बन्धी दोनों भागों को पढकर परम प्रसन्नता हुई। आपने समस्त महाभारत का मंथन कर नानाविध नैतिक, धार्मिक, सामाजिक एव राजनीतिक सिद्धान्तों को हिन्दी अनुवाद सहित जिस रूप में परिस्फुटित किया है, वे एक साथ ही महाभारत के अन्तर्हित तत्वों से प्रत्येक पाठक को परिचित करने में उपयोगिता रखते हैं और सर्वथा स्वागतार्ह है।

"कथाभाग में भी प्रायः समस्त कथाओं और उपकथाओं का वर्गीकृत सुन्दर संग्रह उपस्थित किया गया है। मेरा दृढ विश्वास है कि प्रकाशित होने पर यह ग्रन्थ प्रत्येक पाठक के लिए रुचिकर और आकर्षक सिद्ध होगा।"

विद्याधर शास्त्री

१५–१२–६७

निर्देशक—हिन्दी विश्व भारती, शोध प्रतिष्ठान, बीकानेर

'भारती'; १७. **श्री पं० श्रीराम शर्मा**, आचार्य गायत्री तपोभूमि, मथुरा; १८. **पं० प्रभुदत्त शर्मा**, प्रधानाचार्य, क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, अजमेर; १९. **श्री दयालु मिश्र**, भूतपूर्व प्रधानाचार्य, गुरुकुल महाविद्यालय, कांगड़ी एवं ज्वालापुर; २०. **पं० गोविन्द नारायण शर्मा दाधिमथ**, प्रधानाचार्य महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर; २१. **पं० विश्वनाथ मिश्र**, प्रधानाचार्य, श्री शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ, बीकानेर; २२. **श्री एम०एल० सोहनी**, प्रधानाचार्य डूंगर महाविद्यालय, बीकानेर एवं २३. **श्रीयुत् पं० कमलाकर जी 'कमल'**, संचालक भारती मन्दिर, जयपुर। (इनमें से कुछ सम्मतियाँ प्रस्तुत पुस्तक में भी मुद्रित की जा रही हैं)

" ....लेखक का परिश्रमसब प्रकार से अभिनन्दनीय है, ग्रन्थ, शीघ्र से शीघ्र प्रकाश में आना चाहिये ।"

नरोत्तमस्वामी

कुलपति–भारतीय विद्यामन्दिर, बीकानेर
पीठाधिपति–राजस्थानी ज्ञानपीठ, बीकानेर

•

"........जो भी प्रकाशक इस सुन्दर ग्रन्थ को प्रकाशित करेगा, वह घाटे में नहीं रहेगा ।"

रामधारी सिंह 'दिनकर'

•

"........आपका यह कार्य सर्वथा सराहनीय और उपयोगी है ।'

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्पादक–कल्याण

•

"........अर्थ–काम–प्रधान आजका भारतवासी ऐसी पुस्तकों को पढकर निश्चित ही पाश्चिमात्यों की चकाचौंध से हटकर सुपथ पर लग सकेगा........ ।"

गिरिराज शर्मा

सम्पादक 'भारती'

———

* ॐ *

श्रीमहाभारत सुधासागर

कौटुम्बिक प्रेम एवं कर्त्तव्य

१. गुरुजनों की आज्ञा पालन एवं सेवा

१. गुरुजनों की आज्ञा का पालन कल्याणकारी है—

गुरोर्वै वचनं पुण्यं स्वर्ग्यमायुष्करं नृणाम् ।
गुरुप्रसादात् त्रैलोक्य मन्वशासच्छतक्रतु ।।
गुरोरनुमतिम् प्राप्य सर्वान् कामानवाप्नुयात् ।

—दाक्षिणात्य प्रति आदि पर्व ८४

मनुष्यों के लिए गुरुजनों की आज्ञा का पालन पुण्य, स्वर्गलोक तथा आयु का देने वाला है। इन्द्रदेव ने गुरु-कृपा से ही तीनों लोकों का शासन किया है अतः गुरु (विद्यागुरु अथवा माता-पिता) की अनुमति प्राप्त कर के मनुष्य सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करता है।

अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि सम्प्रवर्धन्ते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ।।
—उद्योग० ३९।७४

विदुरजी कहते हैं—'जो नित्य गुरुजनों को प्रणाम करता है और वृद्धजनों की सेवा करता है, उसकी कीर्ति, आयु, यश और बल ये चारों बढते हैं।

उत्थायोत्थाय हि सदा प्रष्टव्या वृद्धसम्मताः ।।
ते स्म योगे परं मूलं तन्मूला सिद्धिरुच्यते ।
वृद्धानां वचनं श्रुत्वा योऽभ्युत्थानं प्रयोजयेत् ।।
—सौप्तिक पर्व २।२२-२४

कृपाचार्यजी कहते हैं—'नित्य-प्रति उठकर वृद्धों द्वारा सम्मानित जनों से (अपने कल्याण की प्रत्येक बात) पूछनी चाहिये, क्योंकि वे अप्राप्त वस्तु या गुणों की प्राप्ति कराने वाले हैं। उनका बताया मार्ग ही सिद्धि का मूल कारण कहा जाता है। जो वृद्धों की बात सुन कर उसके अनुसार कार्य करता है, वह उसका उत्तम फल शीघ्र ही पा लेता है।

२. गुरुजन ही तीनों लोक आश्रम, वेद और अग्नि रूप हैं:—❀

एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमात्रयः ।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ।।
—शान्ति० १०८।६

भीष्मजी कहते हैं–ये (मातापिता तथा गुरुजन) ही तीनों लोक, ये ही तीनों आश्रम, ये ही तीनों वेद तथा ये ही तीनों अग्नियां हैं।

❀ गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुदेवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ।।
अखण्डानन्द बोधाय शिष्य सन्ताप हारिणे ।
सच्चिदानन्द रूपाय तस्मै श्री गुरवे नमः ।। —गुरुगीता

सर्वे तस्यादृता लोका यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥+

—शांति० १०८।१२

जिसने इन तीनों (माता, पिता तथा विद्यागुरु) का आदर किया, उसके द्वारा सम्पूर्ण लोकों का आदर होगया और जिसने इनका अनादर कर दिया, उसके सारे के सारे शुभ कार्य निष्फल होजाते हैं ।

३. गुरुजनों की सेवा चिरकाल तक करनी चाहिए:—

चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् ।
चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणम् चिरम् ॥

—शान्ति० २६६।७५

गौतम ऋषि कहते हैं—'चिरकाल तक बड़े-बूढ़ों की सेवा करे, चिरकाल तक उनकी संगति कर के उनकी पूजा (आदर-सत्कार) करे, चिरकाल तक ही उस धर्म का सेवन और चिरकाल तक ही उस (धर्म) का अनुसंधान करे । '

४. गुरुजनों की नित्य वन्दना से दीर्घायु की प्राप्ति:—

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ।×
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत् ॥

—अनुशा० १०४।४३½

+सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि ।
सो पछिताइ उर अघाइ उर अवसि होय हित हानि ॥

—रामचरितमानस

×भगवान् रामचन्द्रजी नित्य गुरुजनों को प्रणाम करते हैं । यथा—
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मात-पिता गुरु नावहिं माथा ।

—रामचरितमानस

प्रातः काल उठकर माता-पिता, आचार्य और अन्य गुरुजन (बड़ा भाई, मामा, चाचा आदि) को प्रणाम करे— इससे बहुत बड़ी आयु प्राप्त होती है।

५. गुरुजनों की निन्दा से आयु का क्षीण होना:—

सम्यङ्‌मिथ्याप्रवृक्तेपिवर्तितव्यं गुराविह ।
गुरुनिन्दा दहत्यायुर्मनुष्याणां न संशय ।।

—अनुशा० १०४।८१

भीष्मजी कहते हैं—गुरुजनों द्वारा प्रतिकूल बर्ताव होने पर भी उनके प्रति अच्छा ही बर्ताव करना चाहिए; क्योंकि गुरु (माता, पिता एवं विद्यागुरु)—निन्दा मनुष्यों की आयु को भस्म कर देती है, इसमें संदेह नहीं।

६. गुरुजनों की सेवा न करने से धर्म की हानि:—

मातरं पितरं वापि बान्धवान् सुहृदस्तथा ।।
जीवतो ये न पश्यन्ति तेषां धर्म विपर्ययः ।=

—शांति० १५३।८१½

'जो जीवित माता-पिता, सुहृदों और भाई-बन्धुओं की देखभाल नहीं करते हैं, उनके धर्म की हानि होती है।'

७. गुरुजनों की सेवा का प्रकार और फल:—❀

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन ।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च ।।

=मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ।।
जिनके यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर प्राणी ।।

—रामचरित मानस

❀मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभाय ।
लहेउ लाभु तिन्ह जन्म कर नतरु जन्म जग जाय ।।

—रामचरित मानस

तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम् ।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयाऽऽत्मवान् ।।

—अनुशा० ७५।४०-४१

राजन् ! जो माता-पिता, बड़े भाई, गुरु और आचार्य की सेवा करता है और उनमें दोष-दृष्टि नहीं करता है, उसको मिलने वाले फल को जानलो–उसे स्वर्ग में सर्व-सम्मानित स्थान मिलता है; मन को वश में रखने वाला वह व्यक्ति गुरुजनों की सेवा के प्रभाव से कभी नरक का दर्शन नहीं करता ।

उपशान्तेन दान्तेन क्षमायुक्तेन सर्वदा ।
शुश्रूषा प्रतिपत्तव्या नित्यमेवानसूयता ।।

—दाक्षिणात्य प्रति अनुशा० ९६

गुरुजनों की सेवा मन का निग्रह और इन्द्रियों का संयम करके सदा क्षमाशील और अदोषदर्शी होकर करनी चाहिये ।

२. गुरु (विद्या–गुरु या आचार्य) भक्ति

१. गुरु (विद्या–गुरु या आचार्य) का महत्वः—❀

न बिना ज्ञान विज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत् ।
न विना गुरु सम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ।।

—शांति० ३२६।२२

जनकजी शुकदेवजी से कहते हैं:—जैसे ज्ञान-विज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, वैसे ही सद्गुरु से सम्बन्ध हुए बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत ।।
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्या साजरामरा ।

—अनुशास० १०५।१८$\frac{?}{२}$

भीष्मजी कहते हैं—'भारत ! पिता और माता केवल शरीर की सृष्टि करते हैं, किन्तु आचार्य के उपदेश से जो ज्ञानरूप नव-जीवन मिलता है, वह सत्य, अजर और अमर है।

❀१. संत कहहिं असि नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव ।
होई न बिमल बिवेक उर गुर सन किएँ दुराव ।।

२. राखइ गुर जौं कोप विधाता । गुर विरोध नहिं कोउ त्राता ।
गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई । जौं बिरंचि संकर सम होई ।

३ बंदउ गुरपद कंज कृपासिंधु नर रूप हरि ।
महा मोह तप पुंज जासु बचन रबिकर निकर ।।

—रामचरित मानस

२. शिष्य अथवा ब्रह्मचारी के कर्तव्यः —

कुर्यातिशेषेण गुरावध्येतव्यं बुभूषता ।
दक्षिणोऽनपवादी स्यादाहूतो गुरुमाश्रयेत् ॥

—शांति० २४२।१९

व्यासजी कहते हैं—अपनी उन्नति चाहने वाले शिष्य को चाहिए कि गुरु की टहल सेवा का सम्पूर्ण कार्य पूरा कर के उनके पास बैठकर अध्ययन करे। वह सब के प्रति सदा उदार रहे और किसी पर कोई कलंक न लगावे। गुरु के बुलाने पर झट उनकी सेवा में उपस्थित हो जाय।

नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत् ।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत ना सुप्ते प्रस्वयेत च ॥
उत्तानाभ्यां च पाणिभ्यां पादावस्य मृदुस्पृशेत् ।
दक्षिणं दक्षिणेनैव सव्यं सव्येन पीड़येत् ॥

— शांति० २४२।२१-२२

'आचार्य जब तक भोजन न करलें, तब तक स्वयं भी न खाय। वे जब तक जलपान न करलें, तब तक स्वयं भी जलपान न करे। उनके बैठने से पहिले न बैठे और न सोने से पहले सोये। दोनों हाथ फैलाकर दाहिने हाथ से गुरु का दाहिना और बायें हाथ से बायां चरण धीरे-धीरे छूकर प्रणाम करे।

नोदीक्षेत परदारांश्च रहस्येकासनो भवेत् ।
इन्द्रियाणि सदा यच्छेत स्वप्नेशुद्धमना भवेत् ॥

—दाक्षिणात्य प्रति अनुशा० १०४

भीष्मजी कहते हैं—'वह पराई स्त्री की ओर न देखे और एकान्त' में उनके साथ एक आसन पर बैठे भी नहीं। इन्द्रियों को सदा वश में रक्खे और स्वप्न में भी (सदा) शुद्ध मन वाला होकर रहे।

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।
सुखार्थी वा त्यजेद् विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ।।

—उद्योग० ४०।६

सुख चाहने वाले को विद्या कहाँ ? विद्या चाहने वाले के लिए सुख नहीं है, सुख की चाह हो तो विद्या छोड़ दे और विद्या चाहे तो सुख का त्याग कर दे।

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात् ।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन् ।।

—शान्ति० १६५।३१

हीन वर्ण के व्यक्ति के पास भी उत्तम विद्या हो तो उसे श्रद्धा-पूर्वक ले लेनी चाहिये और सोना अपवित्र स्थान में भी पड़ा हो तो उसे बिना विचार या हिचक के उठा लेना चाहिए।

३. गुरु भक्ति के आदर्श

१. भगवान् श्रीकृष्ण एवं बलरामजी की गुरु भक्ति

श्रीकृष्णजी और बलरामजी उज्जयिनीपुरी में सान्दीपनि गुरु के यहाँ विद्याध्ययन के लिए गये। वहाँ वे गुरु सेवा परायण होकर गुरुगृह में रहते थे। दोनों भाई गुरुगृह का सम्पूर्ण कार्य अपने हाथों से बड़ी ही भक्ति भाव से करते थे, यहाँ तक कि जङ्गल से काष्ठ भार लाने में भी कोई संकोच नहीं करते थे। जब कभी भी गुरु सेवा का किसी भी प्रकार का अवसर पाते तो अपने आपको धन्य समझते थे। वे वहाँ कठोर व्रत का पालन करते हुए रहते थे। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने चौसठ दिन-रात में ही छहों अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेदों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने चित्रकला, गणित, गन्धर्व वेद तथा वैधक शास्त्र का भी ज्ञान प्राप्र कर लिया। उन्होंने पचास दिन-रात में दस अङ्गों सहित सम्पूर्ण धनुर्वेद का ज्ञान भी प्राप्त किया।

इस प्रकार सम्पूर्ण विद्यायें प्राप्त करने के पश्चात् गुरु-दक्षिणा देने को उन्हें उद्यत देख कर, गुरु सान्दीपनिजी ने उनसे कहा—'मेरा पुत्र इस समुद्र में नहा रहा था, उस समय 'तिमि' नामक जलजन्तु उसे पकड़ कर भीतर ले गया और उसके शरीर को खा गया। मेरे उस मरे हुए पुत्र को जीवित कर के यहाँ लादो।' यद्यपि गुरु की यह माँग बहुत कठिन थी, तीनों लोकों में दूसरे किसी पुरुष के लिये इस कार्य का पूरा करना असम्भव था, तो भी श्रीकृष्णजी ने उसे पूर्ण करने की प्रतिज्ञा कर ली।

जिसने सान्दीपनि के पुत्र को मारा था उस असुर को उन दोनों भाइयों ने युद्ध कर के समुद्र के भीतर ही मार गिराया। तदनन्तर अमित तेजस्वी भगवान् श्रीकृष्ण के कृपा-प्रसाद से सान्दीपनि का पुत्र, जो दीर्घकाल से यमलोक में जा चुका था, पुनः पूर्ववत् शरीर धारण कर के जी उठा। श्रीकृष्ण जी और बलरामजी ने अभित धन, गाय, घोड़ों सहित गुरु पुत्र गुरुजी को सौंप कर उन्हें परम सन्तुष्ट किया।

(महाभारत सभा पर्व १८ अ०)

२. आरुणि की गुरु भक्ति

आरुणि आयोदधौम्य नामक ऋषि के शिष्य थे। एक दिन उपाध्यायजी ने पाञ्चाल देशवासी आरुणि को खेत पर भेजा और कहा—'वत्स जाओ, क्यारियों की टूटी हुई मेड़ बाँध दो। उपाध्यायजी के इस प्रकार आदेश देने पर आरुणि वहाँ जाकर उस धान की क्यारी की मेड़ बाँधने लगा, परन्तु बाँध न सका। मेड़ बाँधने के प्रयत्न में ही परिश्रम करते-करते उसे एक उपाय सूझ गया। वह क्यारी की टूटी हुई मेड़ की जगह स्वयं ही लेट गया। उसके लेट जाने पर वहाँ का बहता हुआ जल रुक गया।

फिर कुछ काल के पश्चात् उपाध्यायजी ने अपने शिष्यों से पूछा—'आरुणि कहाँ चला गया?' शिष्यों ने उत्तर दिया 'भगवन्! आपही ने तो उसे यह कह कर भेजा था कि 'जाओ, क्यारी की टूटी हुई मेड़ बाँध दो।' शिष्यों के ऐसा कहने पर उपाध्यायजी ने उनसे कहा-'तो चलो, हम सब लोग वहीं चलें, जहाँ आरुणि गया है।'

वहाँ जाकर उपाध्यायजी ने उसे आने के लिये आवाज दी—'आरुणि! कहाँ हो वत्स! यहाँ आओ।' उपाध्यायजी का यह वचन सुनकर आरुणि सहसा उस क्यारी की

मेड़ से उठा और उपाध्यायजी के समीप आकर खड़ा होगया। फिर उनसे विनयपूर्वक बोला–'भगवन् ! मैं यह हूं, क्यारी की टूटी हुई मेड़ से निकलते हुए न रुकने वाले जल को रोकने के लिये मैं स्वयं ही वहाँ लेट गया था। इस समय आपकी आवाज सुनते ही उस मेड़ को विदीर्ण कर के आपके पास आ खड़ा हूँ। मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ, आप आज्ञा दीजिये मैं कौन-सा कार्य करूँ ?'

आरुणि के ऐसा कहने पर उपाध्यायजी बोले––'तुम क्यारी की मेड़ को विदीर्ण कर के उठे हो, अत: इस उद्दलन कर्म के कारण उद्दालक नाम से प्रसिद्ध होओगे। और तुमने मेरी आज्ञा का पालन भली भांति किया है, इसलिये तुम कल्याण के भागी होओगे। सम्पूर्ण वेद और समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धि में स्वयं प्रकाशित हो जायंगे।'

(महा० आदि० ३।२२-३२)

इन्हीं उद्दालक ऋषि ने जनमेजय के प्रसिद्ध सर्पयज्ञ कराने में भी एक सदस्य की भाँति भाग लिया (आदि ५३।७)। ये इतने प्रतिभा-सम्पन्न एवं शक्तिशाली हुए कि समय-समय पर इन्द्र की सभा में भी उपस्थित होते थे (सभा० ७।१२)। ये इतने न्याय-परायण थे कि इन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्राह्मणों के प्रति कपट पूर्ण व्यवहार के कारण निकाल दिया था।

—(शा० ५७।१०)

३. उपमन्यु की गुरुभक्ति

आयोदधौम्य उपाध्याय के दूसरे शिष्य का नाम उपमन्यु था। उसे गुरुजी ने आदेश दिया–'वत्स उपमन्यु ! तुम गौओं की रक्षा करो।' उपाध्यायजी की आज्ञा से उपमन्यु गौओं की रक्षा करने लगा। वह दिन भर गौओं की रक्षा में रहकर संध्या के

समय गुरुजी के घर पर आता और उनके सामने खड़ा हो नमस्कार करता।

उपाध्यायजी ने देखा उपमन्यु खूब मोटा-ताजा हो रहा है, तब उन्हों ने पूछा–'बेटा उपमन्यु ! तुम कैसे जीविका चलाते हो, जिससे इतने अधिक हृष्ट-पुष्ट हो रहे हो ?' उसने विनम्र भाव से उत्तर दिया–'गुरुदेव ! मैं भिक्षा से जीवन निर्वाह करता हूँ।' उपाध्यायजी बोले–'मुझे अर्पण किये बिना तुम्हें भिक्षा का अन्न अपने उपयोग में नहीं लाना चाहिये।' उपमन्यु ने 'बहुत अच्छा' कह कर उनकी आज्ञा स्वीकार करली। अब वह भिक्षा लाकर गुरुदेव को अर्पण करने लगा।

उपाध्यायजी उपमन्यु से सारी भिक्षा ले लेते थे। उपमन्यु 'तथास्तु' कहकर पुनः पूर्ववत् गौओं की रक्षा करता रहा। वह दिनभर गौओं की रक्षा में रहता और सन्ध्या के समय पुनः गुरु के घर पर आकर गुरु के सामने खड़ा हो नमस्कार करता था। उस दशा में भी उपमन्यु को पूर्ववत् हृष्ट-पुष्ट देखकर उपाध्यायजी ने पूछा–'बेटा उपमन्यु ! तुम्हारी सारी भिक्षा तो मैं ले लेता हूं, फिर तुम इस समय कैसे जीवन निर्वाह करते हो ?' उपमन्यु बोला–'भगवन् ! पहिले की लाई हुई भिक्षा आपको अर्पित कर के अपने लिये दूसरी भिक्षा लाता हूं और उसी से अपनी जीविका चलाता हूँ।'

यह सुनकर उपाध्यायजी ने कहा—'**यह न्याययुक्त एवं श्रेष्ठ वृत्ति नहीं है। तुम ऐसा कर के दूसरे भिक्षा-जीवी लोगों की जीविका में बाधा डालते हो, अतः लोभी हो। तुम्हें दुबारा भिक्षा नहीं लानी चाहिये।**'

उपमन्यु ने 'तथास्तु' कह कर गुरु की आज्ञा मानली और पूर्ववत् गौओं की रक्षा करने लगा। उपाध्यायजी ने उसे

फिर भी मोटा-ताजा ही देखकर पूछा–'बेटा उपमन्यु ! मैं तुम्हारी सारी भिक्षा ले लेता हूँ और अब तुम दुबारा भिक्षा नहीं माँगते, फिर भी बहुत मोटे हो। आजकल कैसे खाना-पीना चलाते हो।' उपमन्यु ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया–'भगवन् ! मैं इन गौओं के दूध से जीवन-निर्वाह करता हूँ।'

उपाध्यायजी बोले–'मैंने तुम्हें दूध पीने की आज्ञा नहीं दी है, अतः इन गोओं के दूध का उपयोग करना तुम्हारे लिये अनुचित है।'

उपमन्यु ने 'बहुत अच्छा' कह कर दूध न पीने की भी प्रतिज्ञा करली और पूर्ववत् गौ-पालन करता रहा। उपाध्यायजी ने अब भी उसे हृष्ट-पुष्ट ही देखकर पूछा–'बेटा उपमन्यु ! तुम भिक्षा का अन्न नहीं खाते, दुबारा भिक्षा भी नहीं मांगते और गौओं का दूध भी नहीं पीते, फिर भी बहुत मोटे हो। इस समय कैसे निर्वाह करते हो ?'

उपमन्यु ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'भगवन् ! ये बछड़े अपनी माताओं के स्तनों का दूध पीते समय जो फेन उगल देते हैं, उसी को मैं पीता हूं।'

उपाध्यायजी बोले—'ये बछड़े उत्तम गुणों से युक्त हैं, अतः तुम पर दया करके बहुत-सा फेन उगल देते होंगे। इसलिये तुम फेन पीकर तो इन सभी बछड़ों की जीविका में बाधा उपस्थित करते हो, अतः आज से फेन भी न पिया करो।'

उपमन्यु ने 'बहुत अच्छा' कह कर उसे भी न पीने की प्रतिज्ञा करली और पूर्ववत् गौओं की रक्षा करने लगा।

इस प्रकार मना करने पर उपमन्यु न तो भिक्षा का अन्न खाता था, न दुबारा भिक्षा लाता, न गौओं का दूध पीता

और न बछड़ों के फेन को ही उपयोग में लाता था। अब वह भूखा रहने लगा। एक दिन वन में भूख से पीडित होकर उसने आक के पत्ते चबा लिये। उनको खाने से उपमन्यु की आँखों की ज्योति नष्ट होगई। वह अन्धा हो गया। अन्धा होने पर भी गौओं को चराने के लिये इधर-उधर घूमता रहा। वह कुएँ में गिर पड़ा।

जब सूर्यदेव अस्ताचल की चोटी पर पहुँच गये, तब भी उपमन्यु गुरु के घर नहीं आया, तो उपाध्यायजी ने शिष्यों से पूछा--'उपमन्यु क्यों नहीं आया ?' वे बोले—वह तो गाय चराने के लिये वन में गया था।' तब उपाध्यायजी ने कहा—'मैंने उपमन्यु की जीविका के सभी मार्ग बन्द कर दिये हैं, अतः निश्चय ही वह रूठ गया है, इसीलिये इतनी देर हो जाने पर भी वह नहीं आया, अतः हमें चलकर उसे खोजना चाहिये।' ऐसा कहकर शिष्यों के साथ जाकर उन्होंने उसे बुलाने के लिये आवाज दी—'ओ उपमन्यु ! कहाँ हो बेटा ! चले, आओ।'

उपमन्यु ने गुरु की वाणी सुनकर उच्च स्वर से उत्तर दिया—'गुरुजी, ! मैं कुएँ में गिर पड़ा हूं।' तब उपाध्यायजी ने पूछा--'वत्स ! तुम कुएँ में कैसे गिर गये ?

उसने उत्तर दिया—'भगवन् ! मैं आक के पत्ते खाकर अन्धा हो गया हूँ, इसलिये कुएँ में गिर पड़ा।'

तब उपाध्यायजी ने कहा--'बेटा ! दोनों अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य हैं। तुम इन्हीं की स्तुति करो। वे तुम्हारी आँखें ठीक कर देंगे।'

गुरुजी के ऐसा कहने पर उपमन्यु ने अश्विनीकुमार नामक दोनों देवताओं की ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा स्तुति की। इस प्रकार उपमन्यु के स्तवन करने पर दोनों अश्विनीकुमार

प्रकट होकर बोले--'उपमन्यु ! हम तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं, यह तुम्हारे खाने के लिये पूआ है, इसे खा लो।'

उनके ऐसा कहने पर उपमन्यु बोला—'भगवन् ! आपने ठीक कहा है, तथापि मैं गुरुजी को निवेदन किये बिना इस पूए को अपने उपयोग में नहीं ला सकता।'

तब दोनों अश्विनीकुमार बोले—'वत्स ! पहिले तुम्हारे उपाध्यायजी ने भी हमारी इसी प्रकार स्तुति की थी। उस समय हमने उन्हें जो पूआ दिया था, उसे उन्होंने अपने गुरुजी को निवेदन किये बिना ही काममें ले लिया था। तुम्हारे उपाध्याय जी ने जैसा किया है, वैसा ही तुम भी करो।'

उनके ऐसा कहने पर उपमन्यु ने उत्तर दिया—'इसके लिये तो आप दोनों अश्विनीकुमारों की मैं बड़ी अनुनय-विनय करता हूँ। गुरुजी से निवेदन किये बिना मैं इस पूए को नहीं खा सकता।'

तब अश्विनीकुमार उससे बोले,—'तुम्हारी इस गुरुभक्ति से हम बड़े प्रसन्न हैं। तुम्हारे उपाध्याय के दाँत काले लोहे के समान हैं। तुम्हारे दाँत स्वर्णमय हो जाँयगें। तुम्हारी आँखें भी ठीक हो जाँयगी और तुम कल्याण के भागी भी होओगे।'

अश्विनीकुमारों के ऐसा कहने पर उपमन्यु को आँखें मिल गईं और उसने उपाध्यायजी के समीप आकर उन्हें प्रणाम किया। तथा सब बातें गुरुजी से कह सुनायीं। उपाध्यायजी उसके ऊपर बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'जैसा अश्विनीकुमारों ने कहा है, उसी प्रकार तुम कल्याण के भागी होओगे। तुम्हारी बुद्धि में सम्पूर्ण वेद और सभी धर्मशास्त्र स्वतः प्रकट हो जाँयगे।'

—(आदि० ३/३३-७७)

४. वेद की गुरुभक्ति

इन्हीं ग्रायोदधौम्य के तीसरे शिष्य थे 'वेद'। उन्हें उपाध्यायजी ने ग्राज्ञा दी, 'वत्स वेद ! तुम कुछ काल तक यहाँ मेरे घर में निवास करो। सदा सेवा कार्य में लगे रहना, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

वेद 'बहुत ग्रच्छा' कहकर गुरु के घर में रहने लगे। उन्होंने दीर्घ काल तक गुरु की सेवा की। गुरु जी उन्हें बैल की तरह सदा भारी बोझ ढोने में लगाये रखते थे ग्रौर वेद सरदी-गरमी ग्रौर भूख-प्यास का कष्ट सहन करते हुए सभी ग्रवस्थाग्रों में गुरु के ग्रनुकूल ही रहते थे। इस प्रकार जब बहुत समय बीत गया, तब गुरु जी उन पर पूर्णतः सन्तुष्ट हुए। गुरु के सन्तोष से वेद ने श्रेय (कल्याण) तथा सर्वज्ञता प्राप्त करली। तदनन्तर उपाध्याय की ग्राज्ञा होने पर वेद समावर्तन संस्कार के पश्चात् स्नातक होकर गुरुगृह से लौटे। घर ग्राकर उन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया।

ग्रागे चलकर जनमेजय ने इन्हें ग्रपना उपाध्याय वरण किया।

—(आदि० ३/७९-८४)

५. उत्तङ्क की गुरुभक्ति

उत्तङ्क ग्रायोदधौम्य के तीसरे शिष्य वेद के शिष्य थे। एक दिन उपाध्याय वेद ने यजमान के कार्य से बाहर जाने के लिये उद्यत हो ग्रपने शिष्य उत्तङ्क को ग्रग्निहोत्र ग्रादि के कार्य में नियुक्त किया ग्रौर कहा—'वत्स उत्तङ्क ! मेरे घर में मेरे बिना जिस किसी वस्तु की कमी हो जाय उसकी पूर्ति तुम कर देना, ऐसी मेरी इच्छा है।' उत्तङ्क को ऐसा ग्रादेश देकर ग्राचार्य वेद बाहर चले गये।

(आदि० ३/८३-८४)

इसके बाद कुछ काल बीतने पर उपाध्याय वेद परदेश से अपने घर लौट आये। आने पर उन्हें उत्तङ्क का सारा वृतान्त मालुम हुआ, इससे वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले–'बेटा उतङ्क! तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूँ? तमने धर्म पूर्वक मेरी सेवा की है। इससे हम दोनों की प्रीति बहुत बढ गयी है। अब मैं तुम्हें घर लौटने की आज्ञा देता हूं--'जाओ, तुम्हारी सभी कामनाएँ पूर्ण होंगी।' गुरु के ऐसा कहने पर उत्तङ्क बोले— भगवन्! मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? वृद्ध पुरुष कहते भी हैं—

> यश्चाधर्मेण वै ब्रूयाद् यश्चाधर्मेण पृच्छति।
> तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चाधिगच्छति॥ (आदि ३।९१)

जो अधर्म-पूर्वक अध्यापन या उपदेश करता है अथवा जो अधर्म पूर्वक प्रश्न या अध्ययन करता हैं उन दोनों में से एक (गुरु अथवा शिष्य जो भी अधर्म का कार्य करता है) मृत्यु एवं विद्वेष को प्राप्त होता है।

'अतः आपकी आज्ञा मिलने पर मैं अभिष्ट गुरु दक्षिणा भेंट करना चाहता हूँ।'

गुरुजी से यह आदेश मिलने पर कि इस सम्बन्ध में तुम अपनी गुरु-पत्नी से पूछलो कि मैं क्या गुरु दक्षिणा में भेंट करूँ। उत्तङ्क ने अपनी गुरु पत्नी जी से कहा—'देवि! उपाध्याय जी ने मुझे घर जाने की आज्ञा दी है, अतः मैं आपको कोई अभीष्ट वस्तु गुरु-दक्षिणा के रूप में भेंट करके गुरु के ऋण से उऋण होकर जाना चाहता हूं। अतः आप आज्ञा दें, मैं गुरु-दक्षिणा के रूप में कौनसी वस्तु ला दूँ।'

उत्तङ्क के ऐसा कहने पर गुरु पत्नी ने उन्हें राजा पोष्य के यहाँ जाकर उनकी क्षत्राणी पत्नी के कानों के कुण्डल लाने

की आज्ञा दी। उत्तङ्क ने अनेक कठिनाइयों को झेलकर निश्चित समय में वे कुण्डल लाकर गुरु पत्नी को भेंट किये और इस प्रकार गुरु के ऋण से मुक्त हुए।

—(आदि० ३।९२-१५९)

६. एकलव्य की गुरु-भक्ति

ये निषादराज हिरण्यधनु के पुत्र थे। गुरु द्रोणाचार्य की कीर्ति सुनकर ये उनके पास धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त करने के लिए आये, किन्तु आचार्य ने उसे निषाद पुत्र होने के कारण शिक्षा देने से इन्कार किया।

एकलव्य ने द्रोणाचार्य के चरणों में माथा टेक प्रणाम किया और वन में लौटकर उनकी मिट्टी की मूर्ति बनायी तथा उसी में आचार्य की भावना रखकर उसने धनुर्विद्या का अभ्यास प्रारम्भ किया। वह बडे नियम के साथ रहता था। आचार्य में उत्तम श्रद्धा रखकर उत्तम और भारी अभ्यास के बल से उसने बाणों के छोड़ने, लौटाने और संधान करने में बड़ी अच्छी फुर्ती प्राप्त करली।

तदनन्तर एक दिन समस्त कौरव और पाण्डव आचार्य द्रोण की अनुमति से रथों पर बैठकर हिंसक पशुओं का शिकार खेलने के लिये निकले। उनके साथ में एक कुत्ता भी था। वे सब अपना-अपना काम पूरा करने की इच्छा से वन में इधर उधर विचर रहे थे। उनका वह मूढ कुत्ता वन में घूमता घामता निषाद पुत्र एकलव्य के पास जा पहुंचा। उसे देखकर वह कुत्ता भौं-भौं करके भूंकता हुआ उसके पास खड़ा हो गया। यह देखकर एकलव्य ने उस भूंकने वाले कुत्ते के मुँह में मानों एक ही साथ सात बाण मारे। **उसका मुंह बाणों से भर गया और वह उसी दशा में पाण्डुओं के पास आया।** उसे देखकर पाण्डव वीर वड़े विस्मय में पड़ गये।

उस समय सब राजकुमार उस कुत्ते की ओर दृष्टि डालकर लज्जित हो गये और सब प्रकार से बाण मारने वाले की प्रशंसा करने लगे। तत्पश्चात् पाण्डवों ने उस वनवासी वीर की वनमें खोज की और उसे निरन्तर बाण चलाते हुए देखा। पाण्डवों द्वारा पूछे जाने पर एकलव्य ने उत्तर दिया —'आप लोग मुझे हिरण्यधनु का पुत्र तथा द्रोणाचार्य का शिष्य जानें।'

पाण्डवों ने आकर द्रोणाचार्य जी से सब कथा कह सुनायी। अर्जुन ने कहा—'आचार्य! उस दिन तो आपने मुझे अकेले को हृदय से लगाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ यह बात कही थी कि मेरा कोई भी शिष्य तुमसे बडकर नहीं होगा। फिर आपका यह अन्य शिष्य निषाद-राज का पुत्र अस्त्रविद्या में मुझ से बढकर कुशल और सम्पूर्ण लोकों से भी अधिक पराक्रमी कैसे हुआ?'

दो घडी तक द्रोणाचार्य जी कुछ सोचते-विचारते रहे, फिर कुछ निश्चय करके अर्जुन को साथ ले उसके पास गये। वहाँ पहुंचकर उन्होंने एकलव्य को निरन्तर बाणों की वर्षा करते हुए देखा। इधर एकलव्य ने आचार्य द्रोण को समीप आते देख आगे बढकर उनकी अगवानी की और उनके दोनों चरण पकड़ कर पृथ्वी पर माथा टेक दिया। फिर उसने अपने को शिष्य रूप से उनके चरणों में समर्पित करके गुरु की विधि-पूर्वक पूजा की और हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हो गया।

तब द्रोणाचार्य जी ने उससे कहा—'वीर! यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरु दक्षिणा दो।'

एकलव्य यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और कहा —'भगवन्! मैं आपको क्या दूँ? स्वयं गुरुदेव ही इसके लिये

आज्ञा द । ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ आचार्य ! मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो गुरुदेव के लिए अदेय हो।'

इस पर द्रोणाचार्य जी ने कहा—'तुम मुझे दाहिने हाथ का अँगूठा दे दो।'

द्रोणाचार्य के इस कठोर वचन को सुनकर भी सदा सत्य पर अटल रहने वाले एकलव्य ने अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करते हुए पहिले की ही भांति प्रसन्न मुख और उदारचित्त रहकर बिना कुछ सोच विचार किये अपना दाहिना अँगूठा काटकर द्रोणाचार्य को दे दिया।

द्रोणाचार्य उसे सत्य प्रतिज्ञ देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने संकेत से उसे यह बता दिया कि तर्जनी और मध्यमा के संयोग से बाण पकड़कर किस प्रकार धनुष की डोरी खींचनी चाहिये।※

—(आदि० १३१।३१–५८)

७. पाण्डवों की गुरुभक्ति

कुरुवंशी कुमारों—कौरव और पाण्डवों के अस्त्र विद्या में निपुण हो जाने पर गुरु द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा—राजकुमारो ! तुम मेरे चिर शत्रु राजा द्रुपद को कैदकर लाओ, यही मेरे लिए सर्वोत्तम गुरुदक्षिणा होगी।

गुरु की आज्ञा पाकर समस्त राजकुमार अपने-अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर अपने-अपने रथों में बैठे और पाञ्चाल राज द्रुपद पर आक्रमण कर दिया। दुर्योधन अपने भाइयों और कर्ण

※एकलव्य की कथा बताती है कि गुरुभाव सच्चा और दृढ होने पर गुरु की मिट्टी की मूर्ति भी इतनी शिक्षा दे सकती है, जितनी कि वह गुरु शरीर भी नहीं दे सकता। इससे श्रद्धा का महत्व अत्यधिक सिद्ध होता है।

को साथ लेकर वहाँ के निवासियों को मारते हुए राजा द्रुपद की राजधानी को रौंदने लगे।

दुर्योधन आदि कौरवों को अपने बल का बड़ा अभिमान था। अतः अर्जुन ने द्रोणाचार्यजी से सलाह लेकर निश्चय किया कि कौरवों के पराक्रम दिखला लेने के पश्चात् ही हम लोग युद्ध करेंगे।

राजा द्रुपद ने कौरवों के आक्रमण को देखकर उन पर सब ओर से धावा बोल दिया और दुर्योधन, विकर्ण, कर्ण, दुःशासन, शकुनि आदि उनके सब वीरों को तथा उनकी समस्त सेना को घायल करके मूर्छित कर दिया। कौरव चिल्लाते हुए भागे जा रहे थे और नगर निवासी अपने हल मूसल लेकर उन्हें खदेड़ रहे थे।

यह देखकर पाण्डव आचार्यजी को प्रणाम करके युद्ध के लिए निकल पड़े। महाबाहु भीमसेन यमराज की भाँति द्रुपद की विशाल सेना में घुस गये और साक्षात् काल (मृत्यु) के ही रूप धारण कर सेना का नाश करने लगे। पाण्डुपुत्र अर्जुन बाणों की वर्षा करते हुए द्रुपद पर चढ़ गये। जैसे सिंह गजराज को पकड़ लेता है, उसी प्रकार उन्होंने द्रुपद को पकड़ लिया। पाञ्चाल सैनिक दसों दिशाओं में भाग गये। द्रुपद को पकड़ा हुआ देखकर कौरव पाञ्चाल-नगरी का नाश करने लगे। परन्तु अर्जुन ने उन्हें ऐसा करने से यह कहकर रोक दिया कि **'व्यर्थ हत्या करने से क्या लाभ?' धन्य है अर्जुन की शूरवीरता के साथ उनकी दयालुता और अधर्म से दूर रहने की भावना!**

उन्होंने भीमसेन से भी कहा **'भाई भीमसेन! द्रुपद कौरवों के सम्बन्धी है, अतः इनकी सेना का संहार न करो; केवल गुरुदक्षिणा**

के रूप में महाराज द्रुपद को ही गुरु द्रोणाचार्य को आदरपूर्वक सौंप दो।'

तत्पश्चात् पाण्डवों ने महाराज द्रुपद को मंत्रियों सहित संग्रामभूमि में बंदी करके उपहार रूप में गुरु को सौंप दिया।

• • •

धर्मराज युधिष्ठिर महाभारत के युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, मामा शल्य आदि के चरणों की वन्दना करके युद्ध की आज्ञा चाहते हैं और उन सबका आशीर्वाद प्राप्त करके विजय प्राप्त करते हैं। ठीक ही है, गुरुजनों का आशीर्वाद कभी व्यर्थ नहीं जाता।

धन्य है पाण्डवों की गुरुभक्ति, जो इस प्रकार युद्ध के अनेक कष्टों को सहकर भी इस प्रकार गुरु-ऋण से मुक्त हुए।

---

४. मातृ-पितृभक्ति

१. पिता का महत्त्व❀

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः ॥

शान्ति० २६६।२१

भीष्मजी कहते हैं—'पिता ही धर्म, पिता ही स्वर्ग और पिता ही सबसे बड़ी तपस्या है, पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न हो जाते हैं।

❀ १. अनुचित उचित विचार तजि जे पालहिं पितु बैन ।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन ॥

२. पितु आयसु सब धरमक टीका ॥

३. धन्य जनमु जगति तल तासू । पितहि प्रमोद चरित सुनि जासू ॥

४. सोइ सब भाँति मोर हितकारी । जेहि ते रहै भुआल सुखारी ॥

५. अनुचित उचित विचार तजि जे पालहिं पितु बैन ।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन ॥

६. चारि पदारथ करतल ताकें । प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें ॥
आयहु पालि जनम फलु पाई । ऐहउँ बेगहिं होइ रजाई ॥

—रामचरित मानस

२. माता का गौरव❀

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नास्ति मातृसमो गुरुः ।
ब्राह्मणेभ्यः परं नास्ति प्रेत्य चेह च भूतले ।।

—शान्ति० ३४२।१८

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—'सत्य से बढकर अन्य धर्म नहीं है, माता के समाम दूसरा कोई गुरु नहीं है और ब्राह्मणों से बढकर इस लोक व परलोक में कल्याण करने वाला अन्य कोई नहीं है।'

दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायात् पिता दश ।।
दशचैव पितृन् माता सर्वां वा पृथिवीमपि ।
गौरवेणाभिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः ।।

—अनुशासन १०५।१४-१५

भीष्मजी कहते हैं—'गौरव में दस आचार्यों से बढकर उपाध्याय, दसउपाध्यायों से बढकर पिता और दस पिताओं से बढकर माता है, माता अपने गौरव से सम्पूर्ण पृथ्वी को भी तिरस्कृत कर देती है, अतः माता के समान दूसरा कोई गुरु नहीं है।'

सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते ।
न नु मात्राभिशप्तानां मोक्षः कूचन विद्यते ।।

—अदि० ३७।४

नागराज वासुकि कहते हैं—'सब पापों का प्रतिकार हो सकता है, परन्तु माता के श्राप से ग्रस्तों के छूटने का कोई उपाय नहीं है।'

❀ माता कौशल्या जी रामचन्द्रजी से कहती हैं :—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।।

दग्धास्तत्र महासत्रे ब्रह्मदण्ड निपीडिता ।।

—आदि पर्व ५७।२४

उग्रश्रवाजी कहते हैं—'(जो दुष्ट स्वभाव के सर्प थे) वे सब (राजा जनमेजय के) सर्प महायज्ञ में अपनी माता के शापरूपी ब्रह्मदण्ड से पीडित होने के कारण भस्म हो गये।'

ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ ।।
भ्रातुर्भार्या च तद्वत् स्यात् यस्या बाल्ये स्तनं पिवेत् ।

—अनुशा० १०५।१९-२०

भीष्मजी कहते हैं—'भरतश्रेष्ठ ! बड़ी बहिन भी माता के समान है। इसी प्रकार बड़े भाई की स्त्री तथा बचपन में जिसका दूध पीया हो, वह धाय भी माता के समान है।'

३. पुत्र कौन है ❀

मातापित्रोर्वचनकृद्धितः पश्यश्च यः सुतः ।
स पुत्रः पुत्रवद् यश्च वर्तते पितृमातृषु ।।

—आदि० ८५।२५

राजा ययाति कहते हैं—'जो माता-पिता की आज्ञा मानता, उनका हित चाहता, उनके अनुकूल चलता तथा माता-पिता के प्रति पुत्रोचित बर्ताव करता है, वही वास्तव में पुत्र है !'

❀ भगवान् श्रीराम माता कैकेयी से कहते हैं—

सुनु जननी सोइ सुतु बड भागी । जो पितु मातु वचन अनुरागी ।।
तनय मातु पितु पोषनि हारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ।।

—रामचरितमानस

इह वा तारयेद् दुर्गादुत वा प्रेत्य भारत।
सर्वथा तारयेत् पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ॥

—आदिपर्व १५८।५

जो पुत्र इस संसार में दुर्गम संकट से पार करे अथवा परलोक में उद्धार करे—सब प्रकार से मातापिता को तार दे—उसे ही विद्वानों ने वास्तव में पुत्र कहा है।

यस्य वृत्तं न जल्पन्ति मानवा महद्भुतम्।
राशिवर्धनमात्रं स नैव स्त्री न पुनः पुमान्।
दाने तपसि सत्ये च यस्य नोच्चरितं यशः॥
विद्यायामर्थलाभे वा मातुरुच्चार एव स।

—उद्योगपर्व १३३।२२-२३½

विदुला कहती है—'जिसके महान् और अद्भुत पुरुषार्थ एवं चरित्र की सब लोग चर्चा नहीं करते हैं, वह मनुष्य जन संख्या को ही बढाने वाला है, वह मेरी दृष्टि में न स्त्री है और न पुरुष ही। धन, तपस्या, सत्यभाषण, विद्या तथा धनोपार्जन में जिसके सुयश का सर्वत्र वर्णन नहीं होता, वह अपनी माता का पुत्र नहीं मलमूत्र ही है।

निरमर्षं निरुत्साहं निर्वीर्यमरिनन्दनम्॥
मास्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्।

—उद्योग० १३३।३०½

'संसार की कोई भी नारी ऐसे पुत्र को उत्पन्न न करे, जिसे अपने शत्रुओं पर क्रोध न आता हो, जो उत्साह, बल और पराक्रम रहित और शत्रुओं का आनन्द बढ़ाने वाला हो।

यमाजीवन्ति पुरुषं सर्वभूतानि संजय ।
पक्वं द्रुममिवासाद्य तस्यजीवितमर्थवत् ।।

—उद्योग० १३३।४३

'(पुत्र) संजय ! पके फलवाले वृक्ष की तरह जिस पुरुष का आश्रय लेकर सब प्राणी जीवन धारण करते हैं, उसी का जीवन सार्थक है ।'

४. एक ही सुपुत्र उत्तम है—

सहस्रसम्मितः पुत्र एकोऽप्यस्तु तपोधन ।
एकोहि बहुभिः श्रेयान् विद्वान् साधुरसाधुभिः ।।

—वनपर्व ९९।२२

लोपामुद्रा कहती हैं—"तपोधन ! मुझे हजारों की समानता करने वाला एक ही श्रेष्ठ पुत्र (प्राप्त) हो, क्योंकि बहुत से दुष्ट पुत्रों की अपेक्षा एक ही विद्वान् और श्रेष्ठ पुत्र उत्तम माना गया है ।"

५. पुत्रधर्म—

एतदर्थं मम प्राणा भार्या पुत्रः सुहृज्जनः ।
सुपुत्रदारः शुश्रूषां नित्यमेवकरोम्यहम् ।।
अनुकूलं तथा वच्मि विप्रियं परिवर्जये ।
अधर्मेणापि संयुक्तं प्रियमाभ्यां करोम्यहम् ।।

—वनपर्व २१४।२३, २५

धर्मव्याध कौशिक मुनि को कहता है—"मेरे प्राण स्त्री, पुत्र और सुहृद् सब इन्हीं (माता पिता) की सेवा के लिए हैं । मैं (अपनी) स्त्री और पुत्रों सहित प्रतिदिन इन्हीं की सेवा में लगा रहता हूँ।..........मैं इनके अनुकूल बात ही बोलता हूँ, जो इन्हें प्रिय न लगे वह कभी नहीं कहता । (यदि) इनको प्रिय हो तो मैं अधर्मयुक्त कार्य भी कर सकता हूँ ।

६. माता-पिता की सेवा से परम सिद्धि—

त्वया विनिकृता माता पिता च द्विजसत्तम ।
अनिसृष्टोऽसि निष्क्रान्तो गृहात् ताभ्यामनिन्दितः ।।
वेदोचारणकार्यार्थमयुक्तं तत् त्वया कृतम् ।
तव शोकेन् वृद्धौ तावान्धीभूतौ तपस्विनौ ।।
सर्वमेतदपार्थं ते क्षिप्रं तौ सम्प्रसादय ।।

—वनपर्व २१५।७-८, ९½

धर्मव्याध कहता है—"हे द्विजोत्तम ! आप मात -पिता की अवहेलना करके उनकी आज्ञा के बिना ही घर से वेदाध्ययन के लिये निकले हो। हे अनिन्द्य ब्राह्मण ! आपके द्वारा यह अनुचित कार्य किया गया है, आपके शोक से वे दोनों वृद्ध तपस्वी माता-पिता अन्धे हो गये हैं।........(परन्तु माता-पिता को सन्तुष्ट न करने के कारण) आपका यह सारा धर्म और व्रतादि व्यर्थ हो गया है, अतः शीघ्र ही जाकर उन दोनों को प्रसन्न कीजिये (क्योंकि मुझे भी यह सारी सिद्धि माता-पिता की सेवा से ही मिली है) ।

५. माता-पिता के आदर्श भक्त

१. कौशिक ब्राह्मण और धर्म व्याध की कथा

कौशिक नामक एक ब्राह्मण वेदों का अध्ययन करने वाला बड़ा तपस्वी और धर्मात्मा था। उसने अनेक वर्षों तक वन में तपस्या की थी। एक दिन की बात है कि जब वह किसी वृक्ष के नीचे बैठकर वेद-पाठ कर रहा था, तव एक बगुली ने उस पर बींट करदी। यह देख कर वह क्रोधित हो गया और उसने कुपित होकर बगुली को देखा तो वह भस्म होकर तत्काल पृथ्वी पर गिर पड़ी।

वह ब्राह्मण भिक्षा के लिए गांव में गया और एक दरवाजे पर पहुंचकर उसने आवाज लगाई। भीतर से गृहस्वामिनी ने उत्तर दिया—'ठहरिये ! अभी लाती हूं।' अपने पतिदेव की सेवा के कारण उस स्त्री को भिक्षा लाकर देने में कुछ देर हो गई। ब्राह्मण को क्रोधित देखकर उस पतिव्रता स्त्री ने बड़ी शान्ति से उत्तर विया—'देव ! क्षमा करें। मेरे लिये सबसे बड़े देवता पति हैं। वे भूखे और थके हुए घर पर आये थे। उन्हे छोड़कर कैसे आती ? उन्हीं की सेवा के कारण कुछ विलम्ब हो गया।'

ब्राह्मण ने गुस्से में भरकर कहा—"क्या ब्राह्मण बड़े नहीं हैं ? तुमने पति को ही सबसे बड़ा समझ लिया ? तुम गहस्थ में रहकर भी ब्राह्मणों का अपमान करती हो ? ब्राह्मण बड़े तेजस्वी होते हैं। वे चाहें तो पृथ्वी को भी जलाकर भस्म कर सकते हैं।"

स्त्री ने नम्रता भरी वाणी में उत्तर दिया—'तपोधन ! क्रोध न कीजिये । मैं वह बगुली नहीं हूँ, जो तुम्हारी इस क्रोधभरी दृष्टि से जल जाऊँगी । मैं ब्राह्मण का अपमान नहीं करती । ब्राह्मण देव ! पति सेवा के फल को प्रत्यक्ष देखलो, तुमने क्रोध करके जो एक बगुली को जला दिया था, वह बात मुझे मालूम हो गयी । मनुष्य के शरीर में सबसे बड़ा शत्रु क्रोध है, जो क्रोध और मोह को त्याग देता है, सत्य बोलता है, गुरु को सन्तुष्ट रखता है और किसी की मार खाकर भी बदले में उसे नहीं मारता उसी को देवता ब्राह्मण मानते हैं। विप्रवर ! तुम परम धर्म को नहीं जानते । मिथिलापुरी में धर्म-व्याध के पास जाकर पूछो । यदि मेरे मुख से कोई अनुचित बात निकल गई होतो क्षमा करें ।'

ब्राह्मण ने कहा—'शुभे ! तुम्हारा कल्याण हो । मैं तुम पर नाराज नहीं हूं, तुमने जो बाते कही हैं, वे मेरे लिए बड़ी कल्याणकारी हैं । अब मैं धर्म व्याध के पास जाता हूं और उससे सच्चे धर्म का ज्ञान प्राप्त करता हूँ ।'

दूसरे दिन वह ब्राह्मण जंगलों, गाँवों और नगरों को पार करता हुआ मिथलापुरी में पहुँचा । उसने देखा कि धर्म व्याध कसाईखाने में बैठा माँस बेच रहा है । यह देखकर वह कुछ दूर खड़ा हो गया । ब्राह्मण को आया जानकर धर्मव्याध उसके पास आया और बोला—'भगवन् ! मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ । मैं वही व्याध हूँ जिसकी तलाश में आपको उस पतिव्रता स्त्री ने यहाँ मिथिलापुरी में मेरे पास भेजा है । आज्ञा दीजिये मैं क्या सेवा करूँ ।'

व्याध की बात सुनकर ब्राह्मण को बड़ा आश्चर्य हुआ । व्याध उसे अपने घर ले गया और उसका उचित सत्कार किया ।

ब्राह्मण बोला--'आपका यह माँस बेचने का कार्य आपके योग्य नहीं है, इससे मुझे तो बहुत सन्ताप हो रहा है।'

धर्मव्याध ने कहा—'देव यह कार्य तो मेरे बाप-दादों के समय से चला आ रहा है। जो धन्धा मेरे कुल के लिए उचित है, वही मैंने अपनाया है। मैं अपने धर्म का पालन कर रहा हूँ अतः आप मुझ पर क्रोध न करें। द्विजोत्तम ! विधाता ने इस कुल में जन्म देकर जो कार्य मेरे लिए प्रस्तुत किया है, उसे करता हुआ मैं अपने बूढ़े माता-पिता की बड़ी सावधानी से सेवा करता रहता हूँ। सत्य बोलता हूं। किसी की निन्दा नहीं करता। अपनी शक्ति के अनुसार दान भी करता हूं। देवताओं, अतिथियों और भरण-पोषण करने योग्य कुटुम्बियों और सेवकों को भोजन देने के बाद जो बचता है, उसी से शरीर का निर्वाह करता हूँ। विप्रवर ! वेद कहते हैं कि किसी भी कार्य का निष्काम भाव से आचरण करने से पाप छूट जाते हैं। जो अपने दोषों को न देख पराये दोष को देखता और प्रकट करता रहता है वह मृत्यु के बाद नष्ट हो जाता है उसे परलोक में सुख नहीं मिलता। अतः श्रद्धालु पुरुष को चाहिये कि वह दूसरों के दोष देखना छोड़कर सबके कल्याण की ही इच्छा करें।

'विप्रवर ! लोभ ही पापों का घर है। जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलता को छोड़कर केवल धर्म को ही अपना कर सन्तुष्ट रहते हैं, वे ही शिष्ट हैं और उन्हीं का आदर होता है।

'ब्रह्मन् ! वेद का सार है सत्य, सत्य का सार है इन्द्रिय-सयंम और इन्द्रिय-सयंम का सार है स्वार्थ त्याग। अपने कर्म का परित्याग करने वाले को अधर्म की प्राप्ति देखी जाती है। सिद्धान्त है कि जो अपने कर्म में तत्पर है, वही बर्ताव धर्मयुक्त है। कहा है--

स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते ।
स्वकर्म निरतो यस्तु धर्मः स इति निश्चय ।।

—वनपर्व २०८।९

'विप्रवर ! जिससे मुझे सिद्धि प्राप्त हुई है, वह मेरा प्रत्यक्ष धर्म भी देख लीजिये ।' —यह कह कर वह कौशिक ब्राह्मण को अपने घर में ले गया, जो बहुत साफ-सुथरा था। वहाँ उसके मातापिता एक सुन्दर आसन पर भोजन के उपरान्त सन्तुष्ट बैठे थे । धर्मव्याध ने दोनों के चरणों में मस्तक रख कर साष्टांग प्रणाम किया और माता पिता ने परम सन्तुष्ट हो आशीर्वाद दिया ।

धर्मव्याध ने कहा— 'देव ! मेरे लिए ये माता पिता ही प्रधान देवता है । जो कुछ देवताओं के लिए करना चाहिये, वह मैं इन्हीं के लिए करता हूँ । मेरे प्राण, स्त्री, पुत्र और सुहृद् सब इन्हीं की सेवा के लिए हैं। मैं स्त्री पुत्रादि के साथ नित्य इन्हीं की सेवा में लगा रहता हूँ । मैं स्वयं ही इन्हें नहलाता, इनके चरण धोता और स्वयं ही भोजन परोस कर जिमाता हूँ । मैं इनके मनके अनुकूल बात ही बोलता हूँ । जो इन्हें प्रिय न लगे, ऐसी बात कभी मुँह से नहीं निकालता । इन्हें पसन्द हो तो मैं अधर्म का कार्य भी कर सकता हूँ। परन्तु धर्मात्मा माता पिता कभी कभी अधर्म का काम पसन्द नहीं कर सकते ।

'ब्रह्मन् ! अपने माता-पिता की उपेक्षा की है। उनकी बिना आज्ञा प्राप्त किए ही आप वेदाध्यन के लिए घर से निकल पड़े हैं। मेरी बात में श्रद्धा करके आप उन्हें प्रसन्न करने के लिए घर जाइये और माता पिता की सेवा कीजिए। ऐसा करने से आपका धर्म नष्ट नहीं होगा ।'

ब्राह्मण धर्म व्याध ने की बातों से सन्तुष्ट होकर उससे विदा ली और अपने घर गया। वहां जाकर मातापिता की सब प्रकार की सेवा-शुश्रुषा की। जिससे प्रसन्न हो कर बूढ़े माता-पिता ने भी उसकी प्रशंसा की। अन्त में अपने मातापिता की सेवा कर उसने पूर्ण सिद्धि प्राप्त की।

—(वनपर्व अध्याय २०६ से २१६)

२. भीष्मपितामह (देवव्रत) की पितृभक्ति

महाराज शान्तनु एक धीवर की कन्या सत्यवती पर आसक्त थे। धीवर ने शर्त रक्खी—'इस कन्या के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा, उसीको राज्य का उत्तराधिकारी बनाना होगा।' महाराज अपने पुत्र देवव्रत को इतना प्यार करते थे कि वे धीवर की शर्त स्वीकार न कर सके, किन्तु उनका चित्त सदैव मलीन रहने लगा। जब देवव्रत को अपने पिता की व्यथा का कारण मालूम हुआ तो वे तत्काल धीवर के पास पहुंचे और उन्होंने पिता की प्रसन्नता के लिए राजपाट ही नहीं छोड़ा, किन्तु जीवनभर अविवाहित रहने का प्रण करके अपने सम्पूर्ण स्वार्थ एवम् कामनाओं पर ही पानी फेर दिया। धन्य है ऐसे पितृभक्त को !

राजा शान्तनु इस संवाद को सुनकर परम सन्तुष्ट हुए और उन्होंने पुत्र को गले लगा लिया उन्हें इच्छा-मृत्यु का वरदान दिया।

३. राजा पुरु की पितृभक्ति

राजा पुरु ने अपने पिता महाराज ययाति को अपनी यौवनावस्था देकर पिता की वृद्धावस्था अंगीकार की और स्वयं

ने वृद्धावस्था के कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार किया। अन्तमें राज्य के अधिकारी भी ये ही हुए।

४. धर्मराज युधिष्ठिर की आदर्श पितृभक्ति

महाभारत के युद्ध के उपरान्त राज्याभिषेक हो जाने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ ऐसा सुन्दर वर्ताव किया कि उन्हें अपने पुत्रों की मृत्यु का दुःख भी भूल गया। जिन धृतराष्ट्र की बदौलत पाण्डवों ने भारी से भारी विपत्तियां झेली, द्रौपदी का अपमान हुआ, जिन्होंने उन्हें पांच गांव भी देना मंजूर नहीं किया, जिनके कारण इतना भयङ्कर नर-संहार हुआ उन्हीं धृतराष्ट्र के प्रति इतना निश्छल प्रेम भाव रखना और अन्त तक उन्हें सुख पहुंचाने की चेष्टा करना युधिष्ठिर जैसी महान् आत्मा का ही काम था। वे सारा राजकाज उन्हीं से पूछकर करते थे और राज-काज करते हुए भी उनकी सेवा के लिए बराबर समय निकाला करते थे। वे आवश्यकतानुसार उन्हें यथेष्ठ धन भी दिया करते थे। युधिष्ठिर से इन्हें इतना सुख हुआ, जितना उन्हें अपने पुत्रों से भी नहीं हुआ था। महाराज पाण्डु का देहान्त तो इनकी बाल्यावस्था में ही हो चुका था। माता कुन्ती के साथ इनका कैसा व्यवहार होगा—इसका अनुमान महाराज धृतराष्ट्र और गान्धारी देवी के प्रति इनके किए गए व्यवहार से ही लग सकता है।

५. कर्ण का अपनी धाय राधा और अधिरथ के प्रतिप्रेम

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्ण को पाण्डवपक्ष में लाने के लिए समझाते हुए कहा कि 'कर्ण, तुम्हारा जन्म भी भगवान् सूर्यदेव के अनुग्रह से कुन्ती के गर्भ से हुआ है। अतः तुम कुन्ती के

ज्येष्ठ पुत्र हो। इस लिये आओ, धर्मशास्त्रों के नियम के अनुसार तुम्हीं राजा बनोगे। पांचों भाई पाण्डव, द्रौपदी के पांचों पुत्र तथा किसी से परास्त न होने वाला सुभद्रा कुमार वीर अभिमन्यु—ये सभी तुम्हारे चरणों का स्पर्श करेंगे। समस्त पाण्डव, पाञ्चाल और चेदि देश के नरेश तथा मैं—ये सब लोग, तुम्हें पृथ्वी पालक सम्राट् के पद पर अभिषिक्त करेंगे। कुन्ती-कुमार ! नक्षत्रों से घिरे हुए चन्द्रमा की भांति तुम अपने अन्य भाइयों से घिरे रहकर राज्य का पालन और कुन्ती को आनन्दित करो।'

इस पर कर्ण ने कहा—केशव ! आपने जो 'कुछ कहा है, वह निस्सन्देह ठीक है। किन्तु कुन्ती देवी ने मुझे त्याग दिया और राधा और अधिरथ ने मुझे जल से बाहर निकाकर पाला-पोसा। अतः मैं माता राधा और पिता अधिरथ के मुखों का ग्रास कैसे छीन सकता हूँ ? गोविन्द ! अब मैं सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य पाकर भी उनका सम्बन्ध मिथ्या नहीं कर सकता।'

धन्य है कर्ण की इस मातृ–पितृ भक्ति को !

---

६. भ्रातृ-प्रेम

१. भाइयों के बँटवारे से हानियाँ

विभागं बहवो मोहात् कर्तुमिच्छन्ति नित्यशः।
ततो विभक्तास्त्वन्योन्यं विक्रुध्यन्तेऽर्थमोहिताः॥
ततः स्वार्थपरान् मूढान् पृथग्भूतान् स्वकैर्धनैः।
विषित्वा भेदयन्त्येतानमित्रा मित्ररूपिणः॥
विदित्वा चापरे भिन्नानन्तरेषु पतन्त्यथ।
भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव प्रवर्तते॥
तस्माद् विभागं भ्रातॄणां न प्रशंसन्ति साधवः।
गुरु शास्त्रे निबद्धानामन्योन्येनाभिशंकिनाम्॥

(आदि० २९/१८–२१)

महर्षि कश्यप गरुड से कहते हैं—'बहुत से मनुष्य प्रायः धन के बँटवारे की इच्छा करते हैं। फिर बँटवारा होने पर धन के मोह से मोहित हो वे विरोधी बनकर एक दूसरे पर क्रोध करने लगते हैं। इन स्वार्थपरायण मूढ मनुष्यों के अपने धन के साथ अलग-अलग हो जाने की बात जानकर उनके शत्रु भी मित्ररूप में आकर उनसे मिलते और उनमें भेद डालते रहते हैं। उनकी फूट का पता लगाकर दूसरे उनका छिद्र देखा करते हैं और उनके मिल जाने पर उनका परस्पर बैर बढाने के लिए उनके बीच में आ कूदते हैं। इसलिये जो अलग-अलग होकर आपस में फूट उत्पन्न कर लेते हैं, उनका शीघ्र ही ऐसा नाश हो जाता है, जिसकी तुलना नहीं। अतः श्रेष्ठ व्यक्ति भाइयों के बंटवारे की प्रशंसा नहीं करते, क्योंकि ऐसा हो जाने पर भाई गुरुस्वरूप शास्त्र की उल्लंघन न करने योग्य आज्ञा के अधीन नहीं रह जाते और एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखा करते हैं।'

२. बड़े भाई का कर्तव्य

अन्धः स्यादन्धवेलायां जड़ स्यादपि वा बुधः ।
परिहारेण तद् ब्रूयाद् यस्तेषां स्याद् व्यतिक्रमः ॥

(अनुशा० १०५।४)

भीष्मजी कहते हैं – 'बड़े भाई को चाहिये कि वह अवसर के अनुसार अन्ध, जड़ और विद्वान् बने अर्थात् यदि छोटे भाइयों से कोई अपराध हो जाय तो उसे देखते हुए भी न देखे। जानकर भी अनजान बना रहे और उनसे ऐसी बात करे, जिससे उनकी अपराध करने की प्रवृत्ति दूर हो जाय।

प्रत्यक्षं भिन्नहृदयाभेदयेयुः कृतं नराः ।
श्रियाभितप्ताः कौन्तेय भेदकामास्तथारयः ॥

(अनुशा० १०५।५)

'हे कौन्तेय ! यदि बड़ा भाई प्रत्यक्ष रूप से अपराध का दण्ड देता है तो उसके छोटे भाइयों का हृदय छिन्न-भिन्न हो जाता है और वे उस दुर्व्यवहार का लोगों में प्रचार कर देते हैं, तब उनके वैभव को देखकर जलने वाले कितने ही शत्रु उनमें मतभेद पैदा करने की इच्छा करने लगते हैं।

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः ।
हन्ति सर्वमपि ज्येष्ठः कुलं यत्रावजायते ॥

(अनुशा १०५।६)

'बड़ा भाई अपनी अच्छी नीति से कुल को उन्नति शील बनाता है, किन्तु यदि वह कुनीतिका सहारा लेता है तो उसका विनाश करता है। जहाँ बड़े भाई का विचार खोटा हुआ, वहाँ वह जिसमें उत्पन्न हुआ है, अपने उस समस्त कुल को ही नष्ट कर देता है।

ना प्रदाय कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत योतकम् ॥ ❀

(अनुशा० १०५/१०)

'छोटे भाइयों को उनका उचित भाग दिये बिना बड़े भाई को पैतृक सम्पत्ति का भाग नहीं ग्रहण नहीं करना चाहिये।

३. छोटे भाइयों का कर्तव्य

न ज्येष्ठो वावमन्येत दुष्कृतः सुकृतोऽपिवा ।
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयश्चेत् तत् तदाचरेत् ॥

(अनुशा० १०५/१३)

ज्येष्ठ भाई अच्छा काम करने वाला हो या बुरा, छोटों को उसका अपमान नहीं करना चाहिये। इसी तरह यदि स्त्री अथवा छोटे भाई बुरे रास्ते पर चल रहे हों तो श्रेष्ठ पुरूष को जिस तरह से भी उनकी भलाई हो, वही करना चाहिथे।

४. छोटे और बड़े (दोनों) भाइयों का कर्तव्य

स ह्येषाँ वृत्तिदातास्यात् स चैतान् प्रतिपालयेत् ।
कनिष्ठास्तं नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः ॥
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा ।

(अनुशा० १०५/१७–१८)

❀ .... राम हृदयँ अस बिसमय भयऊ ॥
जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई।
करनबेध उपवीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा ॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेक ॥

—रामचरितमानस

'बड़े भाई को उचित है कि वह अपने छोटे भाइयों को जीविका प्रदान करे तथा उनका पालन पोषण करे। छोटे भाइयों का भी कर्तव्य है कि वे सब के सब बड़े भाई के सामने नतमस्तक हों और उसकी इच्छा के अनुसार ही चलें। बड़े भाई को ही पिता मानकर उसके आश्रम में जीवन व्यतीत करें।

५. पिता का कर्तव्य

भ्रातॄणामविभक्तानामुत्थानमपि चेत् सह।
न पुत्रभागं विषमं पिता दद्यात् कदाचन॥

(अनुशा० १०५/१२)

'यदि भाई भाइयों के हिस्से का बँटवारा न हुआ हो और सबने साथ ही साथ व्यापार आदि के द्वारा धन की उन्नति की हो, उस दशा में यदि पिता के जीते जी सब अलग होना चाहें तो पिता को उचित है कि वह कभी किसी को कम और किसी को अधिक धन न दे अर्थात् वह सब पुत्रों को समान हिस्सा दे।'

७. भ्रातृप्रेम का आदर्श

१. धर्मराज युधिष्ठर का आदर्श

घोष यात्रा के समय गन्धर्वों ने पाण्डवों के हित के विचार से ही दुर्योधनादि को रानियों सहित कैद कर लिया। उनकी दीन प्रकार सुनते ही धर्मराज युधिष्ठर ने अपने भाइयों से दुर्योधनादि को छुड़ाने के लिए आदेश देते हुए कहा—'भाई बन्धुओं में मतभेद और झगड़े होते ही रहते हैं इससे आत्मीयता नहीं चली जाती। जब कोई बाहर का मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषों के कुल पर आक्रमण करता है, तब वे उस बाहरी मनुष्य के द्वारा होने वाले अपने कुल के अपमान को नहीं सहन कर सकते। दूसरों के द्वारा पराभय प्राप्त होने पर उसका सामना करने के लिए हम लोग एक सौ पाँच भाई है। आपस में विरोध होने पर ही हम पाँच और वे सौ भाई हैं।'

वे स्वर्ग के आनन्द को भी ठोकर मारते हुए कहते हैं:—

शुभं वा यदि वा पापं भ्रातृणां स्थानमद्य मे।
तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोकानन्यान्न कामये॥

(महा प्र० ३/३१)

इन्द्रदेव से युधिष्ठिरजी कहते हैं-देवराज ! मेरे भाइयों को शुभ या अशुभ जो भी स्थान प्राप्त हुआ हो, उसी को मैं भी पाना चाहता हूँ। उसके सिवा दूसरे लोकों में जाने की मेरी इच्छा नहीं है।

किं मे भ्रातृविहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः ।
यत्र ते मम स स्वर्गो नायं स्वर्गो मतो मम ॥

(स्वर्गा० २/१२)

'सुरश्रेष्ठगण ! अपने भाइयों से बिछुडकर इस स्वर्ग से भी मुझे क्या लेना है ? जहाँ मेरे भाई हैं, वही मेरा स्वर्ग है। उनके बिना मैं इस लोक (स्वर्ग लोक) को स्वर्ग नहीं मानता।'

२. अर्जुन का आदर्श भ्रातृप्रेम

देवराज इन्द्र के यह कहने पर कि, 'पुत्र ! अब तुम्हें अस्त्रों को लेकर क्या करना है, अब इच्छानुसार उत्तम लोक—स्वर्गादि—माँगलो', अर्जुन इन्द्रदेव से प्रार्थना करता है—हमारे भाई बडे दुःख से वनवास कर रहे हैं उन्हीं के उद्धार हेतु मैंने ये सब तपस्या के कष्ट उठाये हैं, अन्य स्वर्ग-सुख आदि भोगने के विचार से नहीं।'—इस प्रकार उसने स्वर्गादि के दिव्य भोगों को ही भ्रातृप्रेम के कारण तिलाञ्जली दे दी।

३. शंख और लिखित का आदर्श

अपने छोटे भाइयों को कुमार्ग से बचाना बड़े भाईयों का पावन कर्तव्य है—इस सम्बन्ध में निम्न कथा यहाँ दी जाती है:—

शंख और लिखित नाम के दो भाई थे। इनमें शंख बड़े और लिखित छोटे थे। बाहुधा नदी के तट पर दोनों के अलग-अलग आश्रम थे। एक दिन लिखित शङ्ख के आश्रम पर आये। उस समय शंख बाहर गये हुए थे। लिखित शङ्ख की अनुपस्थित में शङ्ख के बगीचे से फल तोड़ कर खाने लगे। इतने में ही शङ्ख

वहाँ पर आ गये। उनके पूछने पर लिखित ने सच-सच बता दिया कि मैंने ये फल यहीं से तोड़कर लिये हैं। तब शङ्ख ने कहा—'तुमने मुझसे बिना पूछे स्वयं ने ही फल ले लिए, यह चोरी है। अतः राजा के पास जाकर उनसे इसका दण्ड ग्रहण करो।

बड़े भाई की आज्ञा पाकर लिखित राजा सुद्युम्न के पास गये और उन्होंने सब बातें कहकर चोरी का दण्ड पाने की प्रार्थना की। इस पर राजा ने कहा—'विप्रवर! यदि आप दण्ड देने में राजा को प्रमाण मानते हैं, तो उसका क्षमा करने का भी अधिकार है। आप पवित्र कर्म करने वाले और महान् व्रत-धारी हैं, मैं आपके इस अपराध को क्षमा करके आपको जाने की आज्ञा देता हूँ।'

चूंकि पाप का फल तुरन्त ही मिल जाय तो ठीक, अन्यथा प्रारब्ध में जाकर वह बढ़ता ही जाता है और आगे चलकर ब्याज समेत चुकाना पड़ता है। अतः तपस्वी ने प्रार्थना की कि 'राजन्! न्याय-दण्ड किसी के साथ पक्षपात नहीं करता। व्यक्तियों का ख्याल किये बिना निष्पक्ष भाव से जो व्यवहार किया जाता है, वही सच्चा न्याय है। अतः वर्तमान विधान के अनुसार मुझे दण्ड ही दिलाने की कृपा करें।'

इस पर राजा ने लिखित के दोनों हाथ कटवा दिये। उस समय दण्ड देने की यही प्रथा थी कि जिस अङ्ग से अपराध किया गया हो उसी अङ्ग को कटवा दिया जाय। दण्ड पाकर लिखित बड़े भाई शङ्ख के पास आये। उनके दुःख को देखकर शङ्ख ने कहा—'अब तुम बाहुधा नदी में जाकर देवताओं, ऋषियों और पितरों का तर्पण करो। भविष्य में कभी अधर्म में मन न लगाना।'

लिखित ने बाहुधा नदी में जाकर स्नान किया और वे तर्पण करने की चेष्टा करने लगे। इतने में ही उनके दो नये सुन्दर हाथ निकल आये। अपने बड़े भाई शङ्ख का यह प्रभाव देखकर वे उसके पास आये और उन्होंने दोनों हाथ दिखलाकर प्रार्थना की—'जब आपका ऐसा प्रभाव है, तब आपने पहले ही मुझे दण्ड देकर पवित्र क्यों न कर दिया।' शंख ने उत्तर दिया– 'म ब्राह्मण हूं। मेरा दण्ड देने का अधिकार नहीं है। दुःखी पर दया करना मनुष्य का कर्तव्य है। इस प्रकार दण्ड देकर राजा सुद्युम्न और उस दण्ड को स्वीकार करके तुम पितरों सहित पार हो गये।'

इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि भाई के बगीचे से भी बिना उसकी अनुमति के कोई वस्तु लेना चोरी है, अतः प्रथम तो चोरी करे ही नहीं और यदि किसी प्रकार हो जाय तो राजा से उसका दण्ड ले ले या प्रायश्चित कर ले। जिन पाप कर्मों का दण्ड मनुष्य इस लोक में पाने से बच जाता है, उनका दण्ड उसे परलोक में या भावी जन्म में भोगना पड़ता है। इससे ज्यादा अच्छा यही है कि इसी लोक में अपने पाप कर्मों का दण्ड भोग लिया जाय।

---

८. संगठन (एकता)❀

सर्वथा संहतैरेव दुर्बलै बलवानपि ।
अमित्र: शक्यते हन्तुं मधुहा भ्रमरैरिव ॥

(वन० ३३/७०)

'जैसे मधु-मक्खियाँ संगठित होकर मधु निकालने वाले को मार डालती हैं, उसी तरह सब भाँति संगठित रहने वाले दुर्बल मनुष्यों द्वारा बलवान् शत्रु भी मारा जा सकता है ।'

महानप्येकजो वृक्षो बलवान सुप्रतिष्ठित: ।
प्रसह्य एव वातेन स स्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥

(उद्यो० ३६/६२)

'यदि वृक्ष अकेला है तो वह बलवान्, दृढमूल तथा बहुत बड़ा होने पर भी एक ही क्षण में आँधी के द्वारा बल-पूर्वक शाखाओं सहित पृथ्वी पर गिराया जा सकता है ।

अथ ये सहिता वृक्षाः संघशः सुप्रतिष्ठिता: ।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योन्यसंश्रयात् ॥

(उद्यो० ३६/६३)

'किन्तु जो बहुत से वृक्ष एक साथ रहकर समूह के रूप में खडे हैं, वे एक दूसरे के सहारे बड़ी से बड़ी आँधी को भी सह सकते हैं ।'

❀संगठन से प्राप्त लाभों के उदाहरण में 'समुद्र-मन्थन' की कथा कही जा सकती है, जबकि भगवान विष्णु के आदेशानुसार संगठित होकर कार्य करने से देवों ने दैत्यों पर विजय प्राप्ति के साथ-साथ सोलह देवदुर्लभ रत्नों को भी प्राप्त किया ।

६. स्त्री धर्म*

१. स्त्रियों का परम कर्तव्य

एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद् भर्तृहितमाचरेत् ॥

(आदि० १५७।४)

'पत्नी के लिए लोक में सबसे बढ़कर यही सनातन कर्तव्य है कि वह अपने प्राणों को भी त्याग करके पति का हित करे ।'

---

* (१) स्त्री धर्म का आदर्श **'रामचरितमानस'** में अनुसूयाजी श्रीसीताजी को बताती हुई कहती हैं—

मातु पिता भ्राता हितकारी । मितप्रद सब सुनु राजकुमारी ॥
अमित दानि भर्ता बयदेही । अधम सो नारि जो सेव न तेही ॥
धीरज धर्म मित्र अरुनारी । आपद काल परिखिअहिं चारी ॥
बृद्ध रोगबस जड़ धन हीना । अंध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पतिकर किएँ अपमाना । नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
एकइ धर्म एक ब्रत नेमा । कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ॥
जग पतिब्रता चारि बिधि अहहीं । बेद पुरान संत सब कहहीं ॥
उत्तम के अस बस मन माहीं । सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥
मध्यम परपति देखइ कैसें । भ्राता पिता पुत्र निज जैसें ॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई । सो निक्रिष्ट त्रिय श्रुति कहई ॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई । जानेहु अधम नारि जग सोई ॥
पति बंचक परपति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई ॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी । दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥

(आगे भी देखिये)

रहिता भर्तृभिश्चैव न कुप्यंति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान् धारयन्ति वरस्त्रियः ।।
(वन० ७०।९)

"श्रेष्ठ स्त्रियाँ पतियों से त्यागे जाने पर भी कभी क्रोध नहीं करतीं। वे सदाचार रूपी कवच से ढके हुये अपने प्राणों को धारण करती हैं।

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई ।।
पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई। बिधवा होइ पाइ तरुनाई ।।
सो०—सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ।
जसु गावत श्रुति चारि अजहुं तुलसिका हरिहि प्रिय ।।

(२) भगवान् शिव पार्वतीजी को कहते हैं कि सती स्त्रियाँ पराये घर—यहाँ तक कि माता पिता के घर भी—बिना बुलायें नहीं जातीं। बिना बुलायें कहीं भी जाने से शील और स्नेह की हानि होती है; यथा—

जौं बिनु बोलें जाहु भवानी। रहइ न सीलु सनेहु न कानी ।।
जदपि मित्र प्रभु पितु गुर गेहा। जाइअ बिनु बोलेहुं न संदेहा ।।
तदपि बिरोध मान जहँ कोई। तहाँ गएँ कल्यानु न होई ।।
डगइ न संभु सरासनु कैसें। कामी बचन सती मनु जैसें ।।

(३) भगवान् श्रीराम श्री सीताजी को समझाते हुए कहते हैं:—
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई ।।
एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा। सादर सासु ससुर पद पूजा ।।

(४) वन जाते समय श्री सीताजी माता कौशल्याजी के चरण छूकर कहती हैं—

तब जानकी सासु पग लागी। सुनिअ माय मैं परम अभागी ।।
सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा ।।
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू ।।

दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा ।
सकृद् वृतोमया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ।।

(वन० २९४।२७)

सावित्री देवी नारदजी से यह जानकर भी कि सत्यवान की आयु केवल एक वर्ष मात्र शेष रही है, अपने पिता से कहती है—"सत्यवान दीर्घ आयु हों या अल्पायु, गुणवान हों या गुणहीन, मैंने उन्हें एक बार अपना पति चुन लिया। अब मैं दूसरे किसी पुरुष का वरण नहीं कर सकती ।"

२. पातिव्रत्य-धर्म पालन का फल

स्त्रियः साध्व्यो महाभागाः सम्मता लोक मातरः ।
धारयन्ति महीं राजन्निमां सवनकाननाम् ।।

(अनुशा० ४३।२०)

भीष्म जी कहते हैं—"राजन् ! यदि स्त्रियां साध्वी एवं पतिव्रता हों तो बड़ी सौभाग्यशालिनी होती हैं। सम्पूर्ण जगत् की माता समझी जाती हैं। वे अपने पतिव्रत्य के प्रभाव से वन और काननों सहित इस सम्पूर्ण पृथ्वी को धारण करती हैं।"

एवमात्मा पिता माता श्वश्रूः श्वशुर एव च ।
भर्तुः कुलं सावित्र्या सर्वं कृच्छ्रात् समुद्धृतम् ।।

(वन० २९९।१४)

"इस तरह सावित्री ने अपने आपको, पिता-माता को, सास-ससुर को तथा पति के समस्त कुल को भी भारी संकट से बचा लिया था।"

वैषम्यमपि सम्प्राप्ता गोपायन्ति कुलस्त्रियः ।
आत्मानमात्मना सत्योजितः स्वर्गा न संशयः ।।

(वन० ७०।८)

"कुलीन स्त्रियाँ बड़े भारी संकट में पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं। ऐसा करके वे सत्य और स्वर्ग दोनों पर विजय पा लेती हैं ; इसमें सन्देह नहीं है।"

३. पति-सेवा से ही समस्त धर्मों का फल मिल जाता है

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा ।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ।।

(आदि० १५७।२४)

"यदि स्त्री सदा अपने पति के प्रिय और हित में लगी रहे तो यह उसके लिए बड़े-बड़े यज्ञों, तपस्याओं, नियमों और नाना प्रकार के दानों से भी बढ़कर है ।"

नव यज्ञक्रियाः काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।।
यातु भर्तरि शुश्रूषातया स्वर्गं जयत्युत ।

(वन० २०५।२२½)

मार्कण्डेयजी कहते हैं—"नारी के लिये किसी यज्ञ, कर्म, श्राद्ध और उपवास की आवश्यकता नहीं है। वह जो पति की सेवा करती है, उसी के द्वारा स्वर्गलोक पर विजय प्राप्त करती है।

विदेहराज दुहिता चात्र श्लोकमगायत ।।
नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत ।।

(आश्व० ४६।१३)

(स्त्रियों के कर्तव्य के विषय में) विदेहराज जनक की पुत्री ने एक श्लोक का गान किया है, जिसका सरांश इस प्रकार है—'स्त्री के लिए कोई यज्ञ आदि कर्म, श्राद्ध और उपवास करना आवश्यक नहीं है। उसका धर्म अपने पति की सेवा है, उसीसे वे स्वर्गलोक पर विजय पा लेती हैं।"

४. दुराचारिणी स्त्रियाँ कुल की नाशक होती हैं❀

असाध्व्यश्चापि दुर्वृत्ताः कुलघ्नाः पापनिश्चयाः ।
विज्ञेया लक्षणैर्दुष्टैः स्वगात्रसहजैर्नृप ॥

(अनुशा० ४३।२१)

भीष्मजी कहते हैं––किन्तु दुराचारिणी असती स्त्रियाँ कुल का नाश करने वाली होती हैं, जिनके मनमें सदा पाप ही बसता है। हे नृप ! फिर ऐसी स्त्रियों को उनके शरीर के साथ ही उत्पन्न हुए बुरे लक्षणों से पहचाना जा सकता है।'

५. जिस कुल की स्त्रियाँ प्रसन्न रहती हैं, वह कुल उन्नति करता है

स्त्रियो यत्र च पूजन्ते रमन्ते तत्र देवताः ॥
अपूजिताश्च यत्रेताः सर्वास्तत्राफलाः क्रिया ।
तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामय ॥
जामी शप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया ।
नैव भान्ति न वधन्ते श्रिया हीनानि पार्थिवः ॥

(अनुशा० ४६।११॥)

भीष्मजी कहते हैं––जहाँ स्त्रियों का आदर होता है, वहाँ देवता लोग प्र न्नतापूर्वक निवास करते हैं तथा जहाँ इनका अनादर होता है, वहाँ की सभी क्रियायें निष्फल हो जाती हैं। जब कुल की बहू-बेटियाँ दुःख मिलने के कारण शोक मग्न होती हैं, तब उस कुल का नाश हो जाता है। वे खिन्न होकर जिन घरों को शाप देती हैं, वे कृत्या के द्वारा नष्ट हुए के समान उजड़ जाते हैं। पृथ्वीनाथ ! वे श्रीहीन गृह न तो शोभा पाते हैं और न उनकी वृद्धि ही होती है।

❀सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलह प्रिय इच्छाचारी ॥
—रामचरित्रमानस

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः पश्यत स्त्रीनिबन्धनम् ।।
सम्मान्यमानाश्चैता हि सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ ।
(अनुशा० ४६।११;)

'सन्तान की उत्पत्ति, उत्पन्न हुए बालक का लालन-पालन तथा लोक यात्रा का प्रसन्नता-पूर्वक निर्वाह--इन सबको स्त्रियों के ही अधीन समझो । यदि तुम स्त्रियों का सम्मान करोगे तो तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होंगे ।

श्रियः एता स्त्रियोनाम सत्कार्या भूतिमिच्छता ।
पालिता निगृहीता च श्रीः भवति भारत ।।
(अनुशा० ४६।१५)

'भरतनन्दन ! स्त्रियाँ ही घर की लक्ष्मी हैं । उन्नति चाहने वाले पुरुष को उनका भली भाँति सत्कार करना चाहिये । अपने वश में रख कर उनका पालन करने से स्त्री श्री (लक्ष्मी) का स्वरूप बन जाती है ।'

प्रकीर्ण भाण्डामनवेस्यकारिणीं सदा च प्रतिकूलवादिनीम् ।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जामेवंविधां तां परिवर्जयामि ।।
पापामघोक्षामवलेहिनीं च व्यपेतधैर्यां कलप्रियां च ।
निद्राभिभूतां सततं शमानामेवंविधां तां परिवर्जयामि ।।
(अनु० ११।१०-१३)

लक्ष्मीजी कहती हैं--जो घर के वर्तनों को सुव्यवस्थित रूप से न रखकर इधर-उधर बिखरे रखती हैं, सोच-समझकर काम नहीं करती हैं, सदा अपने पति के प्रतिकूल ही बोलती हैं, दूसरों के घरों में घूमने-फिरने में आसक्त रहती हैं और लज्जा को सर्वथा छोड़ बैठती है, उनको मैं (लक्ष्मी) त्याग देती हूँ । जो स्त्री निर्दयतापूर्वक पापाचार में तत्पर रहने वाली, अपवित्र, चटोर, धैर्य-हीन, कलह-प्रिय, नींद में बेसुध होकर सदा खाट पर पड़ी रहने वाली होती है, ऐसी नारी से मैं सदा दूर ही रहती हूँ ।'

६. स्त्रियों की सर्व प्रकार से रक्षा होनी चाहिये

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।

(अनुशा० ४६।१४)

भीष्मजी कहते हैं—'कुमार अवस्था मे स्त्री की रक्षा उसका पिता करता है, जवानी में पति उसका रक्षक है और वृद्धावस्था में पुत्र गण उसकी रक्षा करते हैं। अतः स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिये।'

७. उत्तम स्त्रियों के गुण

देवलोक में शाण्डिली देवी से केकय-राज की पुत्री सुमना ने प्रश्न किया कि देवी ! तुमने किस बर्ताव अथवा सदाचार के कारण यह उत्तम स्थान (ब्रह्मलोक) प्राप्त किया है। इस पर शाण्डिली कहती हैं—

अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च ।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम् ।।

(अनुशा० १२३।९)

'मैंने सदा सावधान रहकर अपने पतिदेव के प्रति मुँह से कभी अहित कर और कठोर वचन नहीं निकाले हैं।

देवतानां पितॄणां च ब्राह्मणानां च पूजने ।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी ।।

(अनुशा० १२३।१०)

'मैं सदा सास-ससुर की आज्ञा में रहती और देवता, पितर तथा ब्राह्मणों की पूजा में सदा सावधान होकर संलग्न रहती थी।

कुटुम्बार्थे समानीतं यत्किंचित् कार्यमेव तु ।
प्रातरुत्थाय तत्सर्वं कारयामि करोमि च ।।

(अनुशा० १२३।१५)

'सारे कुटुम्ब के लिये जो कुछ कार्य आ पड़ता, वह सब मैं सबेरे ही उठकर कर और करा लेती थी।

पैशुन्ये न प्रवर्तामि न ममैतन्मनोगतम् ।
अद्वारि न च तिष्ठामि चिरं न कथयामि च ।।

(अनुशा० १२३।११)

'किसी की चुगली नहीं खाती थी। चुगली करना मेरे मन को बिल्कुल नहीं भाता था। मैं घर का दरवाजा छोड़कर अन्यत्र नहीं खड़ी होती और देर तक किसी से बात नहीं करती थी।

असद् वा हसितं किंचिदहितं वापि कर्मणा ।
रहस्यमरहस्यं वा न प्रवर्तामि सर्वथा ।।

(अनुशा० १२३।१२)

'मैंने कभी एकान्त में या सब के सामने किसी के साथ अश्लील परिहास नहीं किया तथा मेरे किसी कार्य द्वारा किसी का अहित भी नहीं हुआ। मैं ऐसे कार्यों में कभी प्रवृत्त नहीं होती थी।

कार्यार्थे निर्गतं चापि भर्तारं गृहमागतम् ।
आसनेनोपसंयोज्य पूजयामि समाहिता ।।

(अनुशा० १२३।१३)

'यदि मेरे स्वामी किसी कार्य से बाहर जाकर फिर घर को लौटते तो मैं उठकर उन्हें बैठने के लिये आसन देती और एकाग्रचित्त हो उनकी पूजा करती थी।

नायासयामि भर्तारं कुटुम्बार्थेऽपि सर्वदा ।
गुप्तगुह्या सदा चास्मि सुसम्मृष्टनिवेशिना ।।

(अनुशा० १२३।१९)

'परिवार के पालन-पोषण के कार्य के लिये भी मैं उन्हें कभी तंग नहीं करती थी। घर की गुप्त बातों को सदा छिपाये रखती और घर आंगन को सदा झाड-बुहार कर साफ रखती थी।

प्रवासं यदि मे याति भर्ता कार्येण केनचित् ।
मङ्गलैं बहुभिर्युक्ता भवामि नियता तदा ।।

अञ्जनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम् ।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि ॥
(अनुशा० १२३।१६-१७)

'यदि मेरे पति किसी आवश्यक कार्यवश कभी परदेश जाते तो मैं नियम से रह कर उनके कल्याण के लिये नाना प्रकार के माङ्गलिक कार्य किया करती थी । स्वामी के बाहर चले जाने पर मैं आंखों में अंजन लगाना, ललाट में गोरोचन का तिलक करना, तैल आदि लगा कर स्नान करना, फूलों की माला पहिनना, अंगों में अंगराग लगाना तथा शृंगार करना पसन्द नहीं करती थी ।

(कुमारान् पालये नित्यं कुमारी परिशिक्षये ॥
आत्मप्रियाणि हित्वापि गर्भसंरक्षणे रता ।
बालानां वर्जये नित्यं शापं कोपं प्रतापनम् ॥
अविक्षिप्तानि धान्यानि नान्नविक्षेपणं गृहे ।
रत्नवत् स्पृहये गेहे गावः सयवसोदकाः ॥
समुद्रस्य च शुद्धाहं भिक्षांदधां द्विजातिषु ।)
(दा० अनुशा० १२३)

'मैं बच्चों का प्रति दिन पालन करती और कन्याओं को नारी-धर्म की शिक्षा देती थी । अपने को प्रिय लगने वाली खाद्य वस्तुएं त्याग कर भी गर्भ की रक्षा में ही सदा संलग्न रहती थी । बच्चों को शाप (गाली) देना, उन पर क्रोध करना अथवा उन्हें सताना आदि मैं सदा के लिये त्याग चुकी थी । मेरे घर में अनाज कभी छींटे नहीं जाते थे । किसी भी अन्न को बखेरा नहीं जाता था । मैं अपने घर में गौओं को घास-भूसा खिला कर, पानी पिला कर तृप्त करती थी और रत्न की भांति उन्हें सुरक्षित रखने की इच्छा करती थी तथा शुद्ध अवस्था में मैं आगे बढ़कर ब्राह्मणों को भिक्षा देती थी ।'

———

१०. पातिव्रत्य धर्म का आदर्श

१. सावित्री देवी

मद्र देश में अश्वपति नाम के एक धर्मात्मा राजा थे। ये प्राणीमात्र के हितैषी, विशाल हृदय, सत्य-प्रतिज्ञ और जितेन्द्रिय थे। सावित्री देवी के वरदान से इन्हें एक सर्वगुण सम्पन्न पुत्री की प्राप्ति हुई, जिसका नाम भी इन्होंने सावित्री ही रक्खा। विवाह के योग्य होने पर पिता ने उसे स्वयं ही अपना पति खोजने को कहा। सावित्री एक सुन्दर रथ में बूढे मन्त्रियों सहित सवार हो एक सुरम्य तपोवन में पहुंची।

एक समय राजा अश्वपति देवर्षि नारद के साथ अपनी सभा में बैठे हुए बातें कर रहे थे। उसी समय सावित्री भी वहाँ आ पहुँची। उसने नारदजी के चरणों में मस्तक रखकर प्रणाम किया। पिता ने सावित्री से यात्रा का विवरण पूछा। इस पर सावित्री ने वताया कि शाल्व देश में एक द्युमत्सेन नामक प्रसिद्ध धर्मात्मा क्षत्रिय राजा राज्य करते थे, जो अन्धे हो गये थे। मौका पाकर एक पडौसी शत्रु राजा ने उन्हें हरा दिया और उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। अब वे अपनी स्त्री और पुत्र सत्यवान के साथ वन में तपस्या में लीन हैं। सत्यवान का जन्म तो नगर में हुआ है किन्तु पालन-पोषण वन में ही हुआ। इन्हीं सत्यवान् को मैंने पति रूप में वरण किया है।

यह सुनकर नारद जी बोल उठे–'राजन्! बड़े खेद की बात है कि आपकी पुत्री ने तो भूल में अपना बड़ा अनिष्ठ कर लिया।

राजकुमार सत्यवान सूर्य के समान तेजस्वी, बृहस्पति के समान बुद्धिमान्, इन्द्र के समान वीर और पृथ्वी के समान क्षमाशील हैं, किन्तु अल्पायु है। आज से एक वर्ष पूर्ण होने पर उसकी मृत्यु हो जायगी।'

इस पर राजा ने सावित्री से कहा—'बेटी सावित्री! जैसा देवर्षि नारद कहते हैं, सत्यवान की आयु बहुत थोड़ी है, अतः तू किसी दूसरे पुरुष का वरण करले।'

सावित्री ने कहा 'पिताजी! सत्यवान दीर्घायु हो या अल्पायु, गुणवान हो या गुणहीन, मैंने उन्हें एकबार अपना पति चुन लिया। अब मैं किसी पुरुष का वरण नहीं कर सकती।'

नारदजी ने कहा—'राजन्! आपकी पुत्री सावित्री की बुद्धि स्थिर है। इसे इस धर्ममार्ग से किसी तरह हटाया नहीं जा सकता। अतः मुझे आपकी पुत्री का सत्यवान के साथ विवाह कर देना ही ठीक मालूम पड़ता है।'

यह कहकर नारदजी तो चले गये। राजा शुभ मुहूर्त में ब्राह्मणों, ऋत्विजों और पुरोहितों को लेकर कन्या के साथ तपोवन में पहुँचे।

अन्त में सत्यवान-सावित्री का विवाह-संस्कार विधिवत् सम्पन्न हो गया। राजा अश्वपति दहेज सहित कन्या दान देकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपनी राजधानी को लौट गये। पिता के चले जाने पर सावित्री ने अपने सब राजसी वस्त्राभूषण उतार दिये और वल्कल वस्त्र धारण कर लिये। उसने सेवा, गुण, विनय, संयम आदि के द्वारा सभी को प्रसन्न कर लिया, किन्तु नारदजी की कही हुई बात रात-दिन सोते-उठते हर समय उसके मन में बनी रहती थी। एक दिन वह समय भी आ पहुँचा जबकि सत्यवान की मृत्यु होने वाली थी। सावित्री को जब यह

निश्चय हो गया कि मेरे पति को आज से चौथे दिन मरना है, तब उसने तीन रात का व्रत धारण किया फिर उसने अग्नि में आहुतियां देकर सभी ब्राह्मणों, बड़े-बूढों और सास-ससुर को प्रणाम कर सभी से सौभाग्य वर्धक कल्याण कारी आशिर्वाद पाया ।

इसी समय सत्यवान कंधे पर कुल्हाडी रखकर वन की ओर चलने लगे। आज सावित्री ने भी सास-ससुर की आज्ञा लेकर पति के साथ वन की ओर प्रस्थान किया। वन में उन्होंने फलों की टोकरी भरली। फिर सत्यवान ने लकडी काटना प्रारम्भ किया, तो परिश्रम के कारण शरीर से पसीना निकल आया और सिरदर्द करने लगा। पत्नी से कहा–'कल्याणी ! अब मैं सोना चाहता हूँ, मुझ में खड़े रहने की शक्ति नहीं है।' यह सुनकर सावित्री अपनी पति का सिर गोदी में लेकर बैठ गयी। उसने दो घडी बाद देखा कि एक रक्त वस्त्रधारी सूर्य के समान दिव्य पुरुष प्रकट हुए हैं, जिसका शरीर श्याम और नेत्र लाल हैं जो हाथ में पाश लिए सत्यवान के पास खड़े-खड़े उन्हीं की ओर देख रहे हैं।

सावित्री ने उन्हें देखते ही पति का सिर भूमि पर रख दिया और खड़ी हो हाथ जोड़कर कांपते हुए हृदय से बोली–'मैं समझती हूं कि आप कोई देव हैं, क्योंकि आपका शरीर मनुष्यों का सा नहीं है। देवेश्वर ! यदि आप प्रसन्न हों तो बताइये कि आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं ?'

यमराज ने कहा—'सावित्री ! तू पतिव्रता और तपस्विनी है, इसलिये मैं तुझसे वार्तालाप कर सकता हूं। शुभे ! तू मुझे यमराज जान। तेरे पति इस राजकुमार सत्यवान् की आयु समाप्त हो गयी है, अतः मैं इसे बाँध कर ले जाऊँगा।'

तदनन्तर यमराजने सत्यवान् के शरीर से अङ्गुष्ठ-मात्र परिमाण वाले जीव को बलपूर्वक खींचकर निकाला और वे उसको बांधकर साथ ले दक्षिण दिशा की ओर चल दिये। सत्यवान् के प्राण निकल जाने पर उसकी साँस बंद हो गयी—अङ्गकान्ति फीकी पड़ गयी। सावित्री दुःख से आतुर हो यमराज के ही पीछे-पीछे चल पड़ी।

यमराज ने कहा—'सावित्री! अब तू लौट जा, सत्यवान् का अन्त्येष्टि संस्कार कर। अब तू पति के ऋण से उऋण हो गयी। पतिके पीछे तुझे जहाँ तक आना चाहिये था, तू वहाँ तक आ चुकी।'

सावित्री ने कहा—जहाँ मेरे पति ले जाये जाते हैं अथवा ये स्वयं जहाँ जा रहे हैं, वहीं मुझे भी जाना चाहिये, यही सनातन धर्म हैं। तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रत-पालन तथा आपकी कृपा से मेरी गति कहीं भी रुक नहीं सकती।'

यमराज बोले—'अनिन्दिते! तू लौट जा। मैं तेरी बातों से बहुत प्रसन्न हूं। तू यहाँ मुझसे कोई वर माँगले। सत्यवान् के जीवन के सिवा और सब कुछ मैं तुझे दे सकता हूं।'

सावित्री बोली—'भगवन्! मेरे श्वसुर आपकी कृपासे अपनी खोयी हुई आँखें पुनः प्राप्त कर लें और वे बलवान् तथा अग्नि एवं सूर्य के समान तेजस्वी हो जाँय।'

यमराज बोले—'अनिन्दिते! तू ने जैसा कहा है, वह सब वैसा ही होगा। अब लौट जा, जिससे तुझे अधिक परिश्रम न हो।'

सावित्री बोली—'स्वामी के समीप रहते हुए मुझे श्रम हो ही कैसे सकता है? जहाँ मेरे पतिदेव रहेंगे, वहीं मेरी भी

गति निश्चित है। आप जहाँ मेरे प्राणनाथ को ले जाँयगे, वहीं मेरा जाना भी अवश्यम्भावी है। देवेश्वर! सत्पुरुषों का एक बार का समागम भी अत्यन्त अभीष्ट का देने वाला होता है। उनके साथ मित्रता हो जाना उससे भी बढ़कर बताया गया है। साधु-पुरुष का सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता; अतः सदा सत्पुरुषों के ही समीप रहना चाहिये।'

यमराज बोले—'भामिनी! मैं तेरी बातों से बहुत प्रसन्न हूं, अतः इस सत्यवान के जीवन को छोड़कर तू दूसरा कोई और वर माँग ले।'

सावित्री बोली—'मेरे बुद्धिमान श्वसुर अपने खोये हुए राज्य को पुनः प्राप्त कर लें तथा वे कभी अपना धर्म न छोड़ें, यही दूसरा वर मैं आपसे माँगती हूं।

यमराज बोले—'राजकुमारी! ऐसा ही होगा। अब तेरी इच्छा पूरी हो गयी। तू लौट जा, जिससे तुझे परिश्रम न हो।'

सावित्री ने कहा—'देव! मन, वाणी और क्रिया द्वारा किसी भी प्राणी का द्रोह न करना, सब पर दया-भाव बनाये रखना और दान देना यह साधु पुरुषों का सनातन धर्म है। आप जैसे सन्त-महात्मा तो अपनी शरण में आये हुए शत्रुओं पर भी दया करते हैं।'

यमराज बोले—'शुभे! तेरी कही हुई यह बात मुझे अत्यन्त सुख दे रही है। अतः तू सत्यवान् के जीवन के सिवा और कोई वर, जिसे तू लेना चाहे, माँग ले।'

सावित्री ने कहा—'भगवन्! मेरे पिता महाराज अश्वपति पुत्रहीन हैं, उन्हें सौ ऐसे औरस पुत्र प्राप्त हों, जो उनके कुलकी सन्तान परम्परा को चलाने वाले हों।'

यमराज ने कहा—'राजकुमारी ! तेरी यह कामना भी पूरी हो होगी। अब लौट जा, तू रास्ते से बड़ी दूर चली आयी है।

सावित्री ने कहा—'भगवन् ! मैं अपने स्वामी के समीप हूं। इसलिये यह स्थान मेरे लिये दूर नहीं है। मनुष्य को अपने आप पर उतना विश्वास नहीं होता, जितना संतों पर होता है। इसी से सब लोग सन्तों से विशेष प्रेम करना चाहते हैं।'

यमराज बोले—'कल्याणि ! तूने जैसी बात कही है, वैसी मैंने तेरे सिवा किसी दूसरे के मुखसे नहीं सुनी है। शुभे ! तू सत्यवान् के जीवन के सिवा और कोई चौथा वर माँगले और यहाँ से लौट जा।'

सावित्री ने कहा—'भगवन् ! मेरे और सत्यवान्—दोनों-के संयोग से कुलकी वृद्धि करने वाले, बल और पराक्रमसे सुशोभित सौ औरस पुत्र हों।'

यमराज ने कहा—'देवी ! ऐसा ही हो। अब तू लौट जा, जिससे तुझे थकावट न हो।'

सावित्री ने कहा—'सत्पुरुषों की वृत्ति निरन्तर धर्म में ही लगी रहती है। श्रेष्ठ पुरुष कभी दुःखी या व्यथित नहीं होते हैं। सत्पुरुषों का सन्तों के साथ जो समागम होता है, वह कभी निष्फल नहीं होता है। श्रेष्ठ पुरुष सन्तों से कभी भय नहीं मानते हैं। श्रेष्ठ पुरुष सत्य के बलसे सूर्य का संचालन करते हैं। संत-महात्मा अपनी तपस्या से इस पृथ्वी को धारण करते हैं। राजन् ! सत्पुरुष ही भूत, भविष्य और वर्तमान के आश्रय हैं। श्रेष्ठ पुरुष सन्तों के बीचमें रह कर कभी दुःख नहीं उठाते हैं। सत्पुरुषों का प्रसाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। सत्पुरुष सम्पूर्ण जगत् के रक्षक होते हैं।

'मानद ! आपने मुझे जो पुत्र-प्राप्ति का वर दिया है, वह पुण्यमय दाम्पत्य संयोग के बिना सफल नहीं हो सकता। इसलिये मैं पुनः यह वर माँगती हूं कि ये सत्यवान् जीवित हो जाँय, क्योंकि इन पतिदेवता के बिना मैं मरी हुई जैसी हूं। पति के बिना यदि कोई सुख मिलता है, तो वह मुझे नहीं चाहिये। पतिदेव के बिना मैं स्वर्गलोक में भी जाने की इच्छा नहीं रखती। पति के बिना मुझे धन सम्पत्ति की भी इच्छा नहीं है। अधिक क्या कहूं, मैं पति के बिना जीवित रहना भी नहीं चाहती।

यमराज ने कहा—'भद्रे ! यह ले, मैंने तेरे पति को छोड़ दिया। कुल-नन्दिनी ! तूने अपने धर्मार्थयुक्त वचन से मुझे पूर्ण संतुष्ट कर दिया है। साध्वी ! यह सत्यवान् नीरोग, सफल मनोरथ तथा तेरे द्वारा ले जाने योग्य हो गया।'

सावित्री को इस प्रकार वरदान दे प्रतापी धर्मराज उसे लौटा कर अपने लोक को चले गये। तदनन्तर सावित्री अपने पति को पाकर उसी स्थान पर गयी; जहाँ पतिका मृत शरीर पड़ा था। उसने पति को उठाकर उनके मस्तक को गोदी में रख लिया। सत्यवान् पुनः चेतना प्राप्त करके परदेश में रहकर लौटे हुए पुरुष की भाँति बार-बार प्रेमपूर्वक सावित्री की ओर देखते हुए उससे बोले :—

सत्यवान् ने कहा—'प्रिये ! खेद है कि मैं बहुत देर तक सोता रह गया। तुमने मुझे जगा क्यों नहीं दिया ? वे श्याम वर्ण के पुरुष कहाँ हैं, जिन्होंने मुझे खींचा था।

'शुभे ! मुझे अपने लिये उतना शोक नहीं है, जितना कि पिता के लिये और उन्हीं का अनुसरण करनेवाली दुबली-पतली माता के लिये है। मेरे कारण आज मेरे माता-पिता

बहुत संतप्त होंगे। उन्हें जीवित देख कर ही मैं जी रहा हूं। मुझे उन दोनों का भरण-पोषण करना चाहिये। मैं यह भी जानता हूं कि माता-पिता का प्रिय करना ही मेरा कर्तव्य है।'

तदनन्तर सत्यवान् सावित्री के कन्धे का सहारा लेकर बड़ी उतावली के साथ आश्रम की ओर चलने लगे। कुल्हाड़ी सावित्री ने थाम ली। फलों की टोकरी दूसरे दिन ले चलने के विचार से वहीं किसी आड़में रखदी।

इसी समय सत्यवान् के पिता महाराजा द्युमत्सेन को उनकी खोयी हुई आँखें मिल गयीं। दृष्टि स्वच्छ हो जाने के कारण वे सब कुछ देखने लगे। वे अपनी पत्नी शैव्या के साथ सभी आश्रमों में जाकर पुत्र का पता लगाने लगे। उस समय उन्हें सत्यवान् के लिए बड़ी वेदना हो रही थी। तदनन्तर दो ही घड़ी में सावित्री अपने पति सत्यवान् के साथ वहाँ आई और बड़े हर्ष के साथ उसने आश्रम में प्रवेश किया। सब ऋषि एक साथ बैठ कर सत्यवान् से देरी से आने का कारण पूछने लगे। उन्होंने उसके पिता के पुनः दृष्टि लाभ करने का भी कारण जानना चाहा। सावित्री ने सम्पूर्ण घटना सच-सच बतला दी। सब लोगों ने सावित्री की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

दूसरे दिन प्रातःकाल शाल्व देश से वहां की सारी प्रजाओं ने आकर महाराज द्युमत्सेन से कहा—'प्रभो! आपका शत्रु अपने ही मन्त्री के हाथों मारा गया है। राजन्! आपका कल्याण हो। अब आप अपने राज्य में पधारिये।'

राजा द्युमत्सेन, सत्यवान्, रानी शैव्या तथा बहू सावित्री अपनी सम्पूर्ण सेना से घिरे हुए, पालकियों पर सवार हो, अपनी राजधानी की ओर चल पड़े। पुरोहितों ने बड़ी प्रसन्नता के साथ द्युमत्सेन का राज्याभिषेक किया। साथ ही उनके महामना

पुत्र सत्यवान् को भी युवराज के पद पर अभिषिक्त कर दिया। दीर्घकाल के पश्चात् सावित्री के गर्भ से उसकी कीर्ति बढाने वाले सौ पुत्र उत्पन्न हुए। इसी प्रकार मद्रराज अश्वपति के भी मालवी के गर्भ से सावित्री के सौ सहोदर भाई उत्पन्न हुए, जो अत्यन्त बलवान थे।

इस प्रकार सावित्री ने अपने आपको, पिता-माता को, सास-ससुर को तथा पति के समस्त कुल को भी भारी संकट से बचा लिया

२. दमयन्ती

निषधदेशमें वीरसेन के पुत्र नल नाम से प्रसिद्ध एक बलवान राजा हो गये हैं। वे गुणवान्, रूपवान्, अश्व-संचालन की कला में कुशल, उदार, जितेन्द्रिय, प्रजाजनों के रक्षक, सत्य-वादी और द्यूत-क्रीड़ा के प्रेमी थे।

इसी प्रकार उन दिनों विदर्भ देशमें भयानक पराक्रमी भीम नामक राजा राज्य करते थे, जो शूरवीर और सर्वगुण सम्पन्न थे। उनके एक दमयन्ती नाम की कन्या और तीन उदार पुत्र—दम, दान्त और दमन थे। ये सभी बड़े तेजस्वी थे। दमयन्ती रूप, तेज, यश, श्री और सौभाग्य के द्वारा तीनों लोकों में विख्यात यशस्विनी हुई। लोग कौतूहल वश दमयन्ती के समीप नलकी प्रशंसा करते थे और निषधराज नलके निकट बार-बार दमयन्ती के सौन्दर्य की सराहना किया करते थे। इस प्रकार निरन्तर एक दूसरे के गुणों को सुनते-सुनते उन दोनों में बिना देखे ही परस्पर अनुराग उत्पन्न हो गया।

एक दिन राजा नल अन्तःपुर के निकट के उपवन में बैठे थे। उनकी दृष्टि कुछ हंसों पर पड़ी, जो स्वर्णमय पंखों से

सुशोभित थे। राजा ने उनमें से एक हंसको पकड़ लिया। तब उस हंसने नल से कहा—'राजन् ! आप मुझे न मारें। मैं आपका प्रिय कार्य करूंगा। मैं दमयन्ती के निकट आपकी ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिससे वह आपके सिवा दूसरे किसी पुरुष को मन में कभी स्थान न देगी।' हंस के ऐसा कहने पर राजा नलने उसे छोड़ दिया। फिर वे हंस वहाँ से उड़कर विदर्भ नगरी में गये और दमयन्ती के निकट उतरे। दमयन्ती भी उन अद्भुत पक्षियों को देखकर उन्हें पकड़ने की चेष्टा करने लगी। एक हंस ने उससे मानवी वाणी में कहा—राजकुमारी दमयन्ती ! सुनो, निषध देशमें नल नाम से प्रसिद्ध एक राजा हैं, जो अश्विनी कुमारों के समान सुन्दर हैं। मनुष्यों में तो कोई उनके समान है ही नहीं। रूप की दृष्टि से तो वे मानों स्वयं मूर्तिमान कामदेव ही प्रतीत होते हैं। सुमध्यमे ! यदि तुम उनकी पत्नी हो जाओ तो तुम्हारा जन्म और यह मनोहर रूप सफल हो जाय।'

हंस के इस प्रकार कहने पर दमयन्ती ने उससे कहा—'पक्षिराज ! तुम नल के निकट भी ऐसी बातें कहना।' यह सुन कर वह हंस 'तथास्तु' कहकर पुनः निषध देश में आया और उस ने नल से सब बातें निवेदन की। दमयन्ती ने जब से हंस की बातें सुनीं, तबसे वह राजा नल के प्रति अनुरक्त हो जाने के कारण अस्वस्थ रहने लगी। राजाने बहुत सोच-विचार करने के बाद यह निश्चय किया कि मेरी पुत्री अब युवावस्था में प्रवेश कर चुकी, अतः इसके स्वयंवर की रचना करनी चाहिये। तदनन्तर उसने सब राजाओं को इस प्रकार निमन्त्रित किया—'वीरो ! मेरे यहाँ कन्या का स्वयम्बर है। आप लोग पधार कर इस उत्सव का आनन्द लें।'

यह सूचना पाते ही सभी नरेश हाथी, घोड़ों तथा रथों की तुमुल ध्वनि से पृथ्वी को गुँजाते हुए उनकी राजधानी में

आये। राजा ने उन सबका यथोचित सत्कार किया। नारदजी से दमयन्ती के स्वयम्वर की चर्चा सुनकर इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम—ये देवता भी दमयन्ती को पाने की इच्छा से विदर्भ नगर में आगये। उदार-हृदय राजा नल भी वहाँ पहुंचे। सूर्य के समान प्रकाशित होनेवाले महाराज नल को देखकर वे लोक-पाल उनके रूप वैभव से चकित हो दमयन्ती को पाने का संकल्प छोड़ बैठे। उन्होंने राजा नल से कहा—'निषध देशके नरश्रेष्ठ नल! आप सत्यवादी हैं, हम लोगों की सहायता कीजिये। आप हमारे दूत बन जाइये। आप दमयन्ती से जाकर कहिये कि—यम, अग्नि, वरुण और इन्द्र—ये देवता लोग तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं। तुम उनमें से किसी एक देवता को पतिरूप में चुनलो।'

देवताओं की कृपा से राजा नल दमयन्ती के पहरेदारों से सुरक्षित भवन में भी उनके दूत बनकर प्रवेश कर गये। नल ने दमयन्ती से कहा—'कल्याणि! तुम मुझे नल समझो। मैं देवताओं का दूत बनकर यहाँ आया हूँ। इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम देवता तुम्हें प्राप्त करना चाहते हैं। शोभने! तुम उनमें से किसी एक को अपना पति चुनलो। उन्हीं देवताओं के प्रभाव से मैं इस भवन के भीतर आया हूँ और मुझे कोई देख नहीं सका है।

दमयन्ती ने अपनी श्रद्धा के अनुसार देवताओं को नमस्कार कर के नल से हँसकर कहा—'महाराज! आप ही मेरा पाणिग्रहण कीजिये और बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? भूपाल! आपके चरणों में भक्ति रखने वाली मुझ दासी को यदि आप स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं आपके ही कारण विष, अग्नि, जल अथवा फाँसी को निमित्त बनाकर अपना प्राण त्याग दूँगी।'

नल ने दमयन्ती को बहुत समझाया, किन्तु वह अपने निश्चय पर अटल रही। नल ने कहा—'मैं देवताओं के सामने प्रतिज्ञा करके विशेषत: परोपकार के लिए प्रयत्न प्रारम्भ करके अब यहाँ स्वार्थ-साधन के लिए कैसे उत्साहित हो सकता हूँ।

दमयन्ती ने कहा—'राजन्! मैंने उस निर्दोष उपाय को ढूँढ निकाला है, जिससे आपको किसी प्रकार दोष नहीं लगेगा। नरश्रेष्ठ! आप और इन्द्र आदि सब देवता एक ही साथ उस रङ्गमण्डल में पधारें, वहां मेरा स्वयम्वर होने वाला है। मैं उन लोकपालों के समीप ही आपका वरण कर लूँगी। ऐसा करने से आपको कोई दोष नहीं लगेगा।'

नल ने आकर देवताओं को सब बातें सच-सच बतादीं। तदन्तर स्वयम्वर की शुभ बेला में सब लोग वहाँ उपस्थित हुए। सब भूपाल भिन्न-भिन्न आसनों पर बैठ गये। निश्चित समय पर राजाओं के नयनों को लुभाती और चित्त को चुराती हुई सुन्दर मुख वाली दमयन्ती ने रंगभूमि में प्रवेश किया। राजाओं के नाम, रूप, यश और पराक्रम आदि का परिचय दिया जाने लगा। दमयन्ती ने देखा कि यहाँ तो एक जगह पाँच पुरुष एक ही आकृति के बैठे हैं। वे पाँचों नल के ही समान दिखायी देते थे। दमयन्ती राजा नल को पहचान न सकी। वह मन एवं वाणी द्वारा देवताओं को नमस्कार करके दोनों हाथ जोड़कर काँपती हुई इस प्रकार बोली—'मैंने हंसों की बात सुनकर निषध नरेश नल का पति रूप में वरण कर लिया है। इस सत्य के प्रभाव से देवता लोग स्वयं ही मुझे राजा नल की पहचान करा दें। यदि मैं मन, वाणी एवं क्रिया द्वारा कभी सदाचार से नहीं गिरी हूँ तो उस सत्य के प्रभाव से देवता लोग मुझे राजा नल की ही प्राप्ति करावें।'

दमयन्ती का वह करुण विलाप सुनकर तथा उसका अन्तिम निश्चय, नल-विषयक वास्तविक अनुराग, विशुद्ध हृदय, उत्तम बुद्धि तथा नल के प्रति भक्ति एवं प्रेम देखकर देवताओं ने दमयन्ती के भीतर वह यथार्थ शक्ति उत्पन्न करदी, जिससे उसे देव-सूचक लक्षणों का निश्चय हो सके। तब दमयन्ती ने नल को पहचानकर लजाते-लजाते उनके गले में परम सुन्दर फूलों का हार डाल दिया। यह देखकर राजाओं के मुख से सहसा 'हाहाकार' का शब्द निकल पड़ा। देवता और महर्षि साधुवाद देने लगे। सबने विस्मित होकर राजा नल की प्रशंसा करते हुए उनके सौभाग्य को सराहा। नल और दमयन्ती दोनों एक दूसरे को पाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सामने अग्नि आदि देवताओं को देखकर मन-ही-मन उनकी ही शरण ली। देवताओं ने प्रसन्न चित्त होकर नल को कई वरदान दिये और फिर स्वर्गलोक को चले गये। सब नरेशों के विदा हो जाने पर राजा भीम ने बड़ी प्रसन्नता के साथ नल-दमयन्ती का शास्त्र-विधि के अनुसार विवाह कराया। कुछ दिनों बाद राजा नल विदर्भ नरेश भीम की आज्ञा से दमयन्ती सहित अपनी राजधानी को चले गये।

महामना नल ने दमयन्ती के गर्भ से इन्द्रसेन नामक एक पुत्र और इन्द्रसेना नाम वाली एक कन्या को प्राप्त किया।

• • •

कलियुग प्रतिदिन राजा नल का छिद्र देखता हुआ निषध देश में दीर्घकाल तक टिका रहा। बारह वर्षों के बाद एक दिन कलि को एक छिद्र दिखाई दिया। एक दिन राजा नल लघु-शङ्का करके आये और हाथ-मुँह धोकर आचमन करने के पश्चात् सन्ध्योपासना करने बैठ गये, पैरों को नहीं धोया।

यह छिद्र देखकर कलियुग उनके भीतर प्रविष्ट हो गया। कलि के प्रभाव से राजा नल अपने भाई पुष्कर के साथ जूआ खेलने लगे। मन्त्रियों, पुरवासियों और दमयन्ती के मना करने पर भी नल जूआ खेलते ही रहे। वे उसमें हारते ही जा रहे थे। वे जूए में अपना सर्वस्व हार गये। यह देखकर दमयन्ती ने अपने पुत्र और पुत्री को रथ पर बिठाकर अपने पिता के यहाँ कुण्डिनपुर भेज दिया।

सारा राज्य और धन हार जाने पर राजा नल एक अधोवस्त्र धारण करके राजभवन से निकल पड़े। दमयन्ती के शरीर पर भी एक ही वस्त्र था। वह जाते हुए राजा नल के पीछे चल दी। पुष्कर ने नगर में यह घोषणा करादी कि 'जो नल के साथ अच्छा बर्ताव करेगा, वह मेरे द्वारा मार डाला जावेगा।' वहाँ भूख से पीडित हो फल-मूल आदि जुटाते हुए राजा नल वहाँ से दूसरी जगह चले गये। केवल दमयन्ती उनके पीछे-पीछे गयी। इसी प्रकार नल बहुत दिनों तक भूख से पीडित रहे। एक दिन उन्होंने कुछ ऐसे पक्षी देखे, जिनकी पाँखे सोने की सी थी। राजा नल ने अपनी धोती को उन पक्षियों पर फैंका। वे सब पक्षी उनका वह वस्त्र लेकर आकाश में उड़गये।

राजा नल ने अत्यन्त दुःखी होकर दमयन्ती से कहा—'मैं बड़ी विषम परिस्थिति में पड़ गया हूं। दुःख के मारे मेरी चेतना गायब हो रही है। मैं तुम्हारा पति हूं, अतः तुम्हारे हित की बात बता रहा हूं। तुम इस मार्ग से अपने पिता के यहाँ चली जाओ।'

दमयन्ती ने नेत्रों से आँसू बहाते हुए कहा—'प्रभो! आपका राज्य छिन गया। धन नष्ट हो गया। आपके शरीर पर वस्त्र तक नहीं रह गया तथा आप भूख और परिश्रम से कष्ट पा रहे हैं।

ऐसी अवस्था में इस निर्जन वनमें आपको असहाय छोड़ कर मैं कैसे जा सकती हूँ ? यदि आपकी सम्मति हो तो हम दोनों ही विदर्भ देश को चलें । वहाँ आपका पूरा आदर-सत्कार होगा ।'

नल ने कहा—'प्रिये ! इसमें सन्देह नहीं कि विदर्भराज्य जैसे तुम्हारे पिता का है वैसे मेरा भी है, तथा आपत्ति में पड़ा हुआ मैं किसी तरह वहाँ नहीं जाऊँगा ।'

राजा नल और दमयन्ती एक ही वस्त्र से अपने अङ्गों को ढक कर इधर-उधर घूम रहे थे। दमयन्ती बार-बार सान्त्वना दे रही थी। भूख और प्यास से थके-माँदे दोनों दम्पति किसी धर्मशाला में जा पहुंचे। वहाँ वे दमयन्ती के साथ थककर भूमि पर ही सो गये। दमयन्ती को निद्रा ने घेर लिया। राजा नल का चित्त शोक से मथा जा रहा था। वे दमयन्ती के सो जाने पर भी स्वयं पहले की भाँति सो न सके। वे विचार करने लगे—'यह मुझ से इस प्रकार अनुरक्त होकर मेरे ही लिये दुःख उठा रही है। यदि मुझ से अलग हो जाय तो यह कदाचित् अपने स्वजनों के पास जा सकती है। यह महाभागा यशस्विनी मेरी भक्त और पतिव्रता है। पतिव्रत तेज के कारण मार्ग में कोई ससका सतीत्व नष्ट नहीं कर सकता ।'

इस प्रकार दुष्ट स्वभाववाले कलियुग के प्रभाव से दमयन्ती को त्याग देने का ही नलने विचार कर लिया। उन्होंने दमयन्ती की आधी योती फाडकर अपना शरीर ढक लिया और बहुत देर तक करुण विलाप करके अपनी सोती हुई पत्नी को छोड़कर वे शीघ्रता से चले गये ।

राजा नल के चले जाने पर जब उसकी आँख खुली तो वहाँ अपने स्वामी को न देखकर वह बहुत व्याकुल हो गयी और उसने भयभीत होकर नल को बड़े जोर-जोर से पुकारा अनेक

प्रकार से विलाप किया। वह विलाप करती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी। उससे थोड़ी ही दूर पर एक विशालकाय भूखा अजगर बैठा था। वह दमयन्ती को निगलना चाहता ही था कि उसका करुण-क्रन्दन सुनकर एक व्याध बड़े वेग से उधर आया। उसने बड़ी उतावली के साथ उस सर्प के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तदनन्तर व्याध के द्वारा पूछे जाने पर दमयन्ती ने सारा वृत्तान्त यथार्थ रूप से कह सुनाया। व्याधने दमयन्ती को भाँति-भाँति से आश्वासन दिया, किन्तु वह पापात्मा दमयन्ती को अपनी पत्नी बनाना चाहता था। दमयन्ती ने उसके मनोभाव को समझ लिया। जब वह वाणी द्वारा रोकने पर भी न रुका तो सती दमयन्ती ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर कहा—'यदि मैं राजा नल के सिवा दूसरे किसी पुरुष का मनसे भी चिन्तन नहीं करती होऊँ, तो उसके प्रभाव से यह दुष्ट व्याध प्राण-शून्य होकर गिर पड़े।' दमयन्ती का इतना कहना था कि वह व्याध आग से जले हुए वृक्ष की भाँति प्राण शून्य होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

तत्पश्चात् दमयन्ती उसी प्रकार राजा नल की खोज में अनेक प्रकार से विलाप करती हुई, भूखी प्यासी घूमती रही। तीन दिन पश्चात् उसे तपस्वियों का एक वन दिखायी दिया। तपस्वियों ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'कल्याणि! शुभे! हम अपने तपोबल से देख रहे हैं, तुम्हारा भविष्य परम कल्याणमय होगा। तुम शीघ्र ही निषध नरेश नल का दर्शन प्राप्त करोगी और अपने पतिको नरेश के पद पर प्रतिष्ठित देखोगी।' ऐसा कहकर वे सभी तपस्वी अग्निहोत्र और आश्रम सहित अदृश्य हो गये। यह देख कर दमयन्ती बड़े विस्मय में पड़ गयी। फिर उसने अपने पति की खोज करते हुए एक व्यापारियों के दल को देखा। जंगली हाथियों द्वारा व्यापारियों के दल का

संहार कर दिया गया। बचे खुचे आदमियों के साथ दमयन्ती चेदि-नरेश की राजधानी पहुंची। राजमाता ने महल पर से उसे ग्रामीण बालकों से घिरे हुए देखा। एक दुःखिनी स्त्री समझ कर राजमाता ने धाय के द्वारा उसे अपने पास बुलाया। राजमाता से उसने अपनी सारी कथा कह सुनायी।

राजमाताने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'कल्याणी! तुम मेरे पास रहो। भद्रे! मेरे सेवक तुम्हारे पति की खोज करेंगे। अथवा यह भी सम्भव है, वे इधर-उधर भटकते हुए स्वयं ही इधर आ निकलें। तुम यहीं रहकर अपने पति को प्राप्त कर लोगी।'

दमयन्ती ने कहा—'वीर-मातः! मैं एक नियम के साथ आपके यहाँ रह सकती हूं। मैं किसी का जूठा नहीं खाऊँगी, किसी के पैर नहीं धोऊँगी और किसी भी दूसरे पुरुष से किसी प्रकार का वार्तालाप भी नहीं करूँगी। यदि कोई पुरुष मुझे प्राप्त करना चाहे तो वह आपके द्वारा दण्डनीय हो। मैं अपने पति की खोज के लिये केवल ब्राह्मणों से मिल सकती हूं।'

राजमाता ने यह सब स्वीकार किया और उसे बड़े सम्मान के साथ अपनी पुत्री सुनन्दा के साथ रख दिया। सुनन्दा दमयन्ती को बड़े आदर-सत्कार के साथ रखने लगी। इससे दमयन्ती को बड़ी प्रसन्नता हुई।

दमयन्ती को छोड़ कर राजा नल आगे बढ़े, तब एक गहन वन में उन्होंने महान् दावानल प्रज्वलित होते देखा। वहाँ उन्हें किसी प्राणी का यह शब्द सुनायी पड़ा—"पुण्य-श्लोक राजा नल! दौड़िये मुझे बचाइये। राजन् मुझे कर्कोटक नाग समझिये। नरेश्वर! एक दिन मेरे द्वारा महा-तपस्वी नारद

ठगे गये। तब उन्होंने क्रोध में भर कर मुझे शाप दिया—'तुम स्थावर वृक्ष की भाँति एक जगह पड़े रहो, जब कभी राजा नल आकर तुम्हें यहां से अन्यत्र ले जायँगे, तभी तुम मेरे शाप से छुटकारा पा सकोगे।' राजन्! आप मुझे बचाइये। मैं शाप से एक पग भी नहीं चल सकता। मैं आपके लिये हल्का हो जाऊँगा। आप शीघ्र मुझे यहाँ से लेकर चल दीजिये।"

इतना कह कर नागराज कर्कोटक अँगूठे के बराबर हो गया। उसे लेकर राजा नल वन के उस भाग की ओर चले, जहाँ दावानल नहीं था। वहाँ जाकर जब उस नाग को छोड़ देने का विचार किया, उस समय कर्कोटक ने फिर कहा–'राजन्! आप अपने कुछ पैंड गिनते हुए चलिये। ऐसा करने पर मैं आपके लिये परम-कल्याण का साधन करूँगा।'

तब राजा नज ने अपने पैंड गिनने आरम्भ किये। पैंड गिनते–गिनते जब राजा नलने 'दश' कहा, तब नागने उन्हें डस लिया। उसके डसते ही उनका पहला रूप बदल कर तत्काल श्याम वर्ण हो गया। तब कर्कोटक ने कहा—'राजन्! मैंने आपके पहले रूपको इसलिये छिपा दिया है कि लोग आपको पहचान न सकें। महाराज नल! जिस कलयुग के कपट से आप को महान् दुःख का सामना करना पड़ा है, वह मेरे विष से दग्ध होकर आपके भीतर बड़े कष्ट से निवास करेगा। आपको विष-जनित पीड़ा कभी नहीं होगी। अब आप यहाँ से अपने को वाहुक नामक सूत बताते हुए अयोध्या के राजा ऋतुपर्ण के समीप जाइये। वे आपसे अश्व-विद्या का रहस्य सीखकर बदले से आपको द्यूत-क्रीड़ा के रहस्य बतलायेंगे और आपके मित्र भी हो जाँयगे। जब आप द्यूत-विद्या के ज्ञाता होंगे, तब पुनः कल्याण को प्राप्त करेंगे। आप एक ही साथ अपनी पत्नी,

दोनों सन्तान तथा राज्य को प्राप्त कर लेंगे। अतः अपने मन में चिन्ता न कीजिये। जब आप अपने पहले वाले रूपको प्राप्त करना चाहें, उस समय मेरा स्मरण करें और इस कपड़े को ओढ़ लें।' ऐसा कहकर नागने उन्हें दो दिव्य वस्त्र प्रदान किये। इसके पश्चात् कर्कोटक अन्तर्धान होगया।

राजा नल कर्कोटक के परामर्श के अनुसार राजा ऋतुपर्ण के यहाँ गया और बाहुक नाम से उनके यहाँ घोड़ों के अध्यक्ष के कार्य को करने लगा। राजा ने अपने दोनों सारथि वार्ष्णेय और जीवल भी बाहुक की सेवा में रख दिये। बाहुक रूपी नल रात-दिन अपनी प्यारी रानी दमयन्ती की चिन्ता किया करता था।

• • •

विदर्भराज ने नल-दमयन्ती की खोज के लिए ब्राह्मणों को चारों दिशाओं में भेजा। सुदेव नामक ब्राह्मण ने पता लगाते हुए चेदि नगरी में जाकर राजमहल में विदर्भ कुमारी दमयन्ती को देखा। उसने देखा कि यह इस समय सरोवर से निकाली हुई और सूर्य की किरणों से जलायी हुई कमलिनी के समान प्रतीत होती है। भाँति-भाँति के लक्षणों से दमयन्ती को पहचान कर सुदेव ब्राह्मण ने उसके समीप जाकर कहा—'विदर्भ राजकुमारी! मैं तुम्हारे भाई का प्रिय सखा सुदेव हूँ। महाराज भीम की आज्ञा से तुम्हारी खोज करने के लिये यहाँ आया हूँ। तुम्हारे पिता-माता और भाई सब सकुशल हैं और कुण्डिनपुर में जो तुम्हारे बालक हैं, वे भी कुशल से हैं।

अपने भाई के प्रियमित्र सुदेव को आया देख दमयन्ती फूट-फूट कर रोने लगी। सुनन्दा ने यह सब देख व्याकुल हो अपनी माता से जाकर सब समाचार कह दिये। राजमाता उस

स्थान पर गयीं, जहाँ दमयन्ती ब्राह्मण के साथ खड़ी थी। राजमाता ने सुदेव से उसके विषय में सब जानकारी प्राप्त की। तत्पश्चात् उसने आसूँ बहाते हुए कहा—'बेटी ! तुम मेरी बहिन की पुत्री हो। तुम्हारे लिये जसा पिता का घर है, वैसा हो मेरा घर है।'

दमयन्ती ने प्रसन्न हृदय से अपनी मौसी को प्रणाम करते हुए कहा—'माँ ! यद्यपि तुम मुझे पहचानती नहीं थीं, तब भी मैं तुम्हारे यहाँ बड़े सुख से रही हूं। माताजी ! मैं बहुत दिनों से प्रवास में भटक रही हूं। अब मुझे विदर्भ जाने की आज्ञा दीजिये।'

तदनन्तर राजमाता ने दमयन्ती को पालकी पर बैठाकर विदा किया और उसकी रक्षा के लिये भी बहुत बड़ी सेना साथ कर दी। रास्ते के लिये खाने-पीने की तथा अन्य आवश्यक सामग्रियों की भी अच्छी व्यवस्था कर दी। दमयन्ती के मिल जाने पर उसके माता-पिता आदि सभी बन्धु-बान्धव बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सुदेव को भली भांति संतुष्ट किया।

दूसरे दिन दमयन्ती ने अपनी माता से कहा—'माँ ! यदि मुझे जीवित देखना चाहती हो तो मैं तुम से सच कहती हूँ, नरवीर महाराज नल की खोज कराने का पुनः प्रयत्न करो।'

महाराज भीम ने अपनी पत्नी से यह सब जानकर बहुत से ब्राह्मणों को राजा नल का पता लगाने को सब दिशाओं में जाने का आदेश दिया। ब्राह्मणों ने दमयन्ती के पास आकर कहा—'राजकुमारी ! हम सब नल का पता लगाने जा रहे हैं, आपको कुछ कहना है क्या ?'

दमयन्ती ने कहा—'भूदेव-गण ! आप लोग सब राष्ट्रों में घूम-घूम कर जन समुदाय में बार-बार मेरी यह बात कहें—'ओ

जुआरी ! तुम वन में सोयी हुई और अपने पति में अनुराग रखने वाली प्यारी पत्नी को छोड़ कर तथा उसके आधे वस्त्र को फाड़कर कहाँ चल दिये ? उसे तुमने जिस अवस्था में देखा था, उसी अवस्था में वह आज भी है और तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा कर रही है। आधे वस्त्र से अपने शरीर को ढँककर वह युवती तुम्हारी विरहाग्नि में निरन्तर जल रही है।'—आपकी ऐसी बातें सुनकर कोई किसी प्रकार का उत्तर दे तो उस मनुष्य का सब प्रकार से परिचय प्राप्त करके आप लोग मुझे बतावें। परन्तु किसी को भी यह मालूम नहीं होना चाहिये कि आप लोग मेरी आज्ञा से ये बातें कह रहे हैं।"

ब्राह्मणों ने वैसा ही किया जैसा दमयन्ती ने आदेश दिया था। दीर्घकाल के पश्चात् पर्णाद नामक ब्राह्मण लौट कर आया और दमयन्ती से बोला—

'दमयन्ती ! मैं महाराज नल को ढूँढता हुआ अयोध्या-नगरी में गया और वहाँ राजा ऋतुपर्ण के दरबार में उपस्थित होकर तुम्हारा वाक्य सुनाया। मेरे बार-बार कहने पर भी ऋतुपर्ण ने अथवा उसके किसी सभासद् ने भी कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु ऋतुपर्ण के सारथी बाहुक ने बार-बार लम्बी साँसें खींचकर एकान्त में मुझ से इस प्रकार कहा—'उत्तम कुल की स्त्रियाँ बड़े भारी संकट में पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं। ऐसा करके वे सत्य और स्वर्ग दोनों पर विजय पा लेती हैं। श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियों से त्यागे जाने पर भी कभी क्रोध नहीं करतीं। वे सदाचाररूपी कवच से आवृत्त अपने प्राणों को धारण करती हैं। उस पुरुष ने बड़े संकट में पड़कर ही अपनी पत्नी का त्याग किया है, तो इसके लिये पत्नी को उस पर क्रोध नहीं करना चाहिये।'

यह सुन कर दमयन्ती के नेत्रों में आँसू भर आये। उसने एकान्त में जाकर अपनी माता से कहा—'माँ! पिताजी को यह बात कदापि मालूम न होनी चाहिये। मैं तुम्हारे ही सामने विप्रवर सुदेव को पतिदेव की खोज के लिए एक कार्य में लगाऊँगी।' तदनन्तर दमयन्ती ने सुदेव को बुलाकर अपनी माता के सामने ही इस प्रकार कहा—'सुदेवजी! आप शीघ्रता-पूर्वक अयोध्या नगरी में जाकर वहाँ के राजा ऋतुपर्ण से कहें—'भीम-कुमारी दमयन्ती पुनः स्वयम्बर करेगी। वहाँ बहुत से राजा और राजकुमार सब ओर से आ रहे हैं। कल ही स्वयम्बर का दिन है। यदि आपका वहाँ पहुँचना सम्भव हो तो शीघ्र जाइये। कल सूर्योदय होने के बाद वह दूसरे पति का वरण कर लेगी; क्योंकि वीरवर नल जीवित हैं या नहीं, इसका कुछ पता नहीं लगता है।'

दमयन्ती के इस प्रकार बताने पर सुदेव ब्राह्मण ने राजा ऋतुपर्ण के पास जाकर वही बात कही। राजा ऋतुपर्ण ने यह सुन कर बाहुक से कहा—'बाहुक! तुम अश्वविद्या के जानकार हो, यदि मेरी बात मानो तो मैं दमयन्ती के स्वयम्बर में सम्मिलित होने के लिये एक ही दिन में विदर्भ देश की राजधानी में पहुँचना चाहता हूँ।'

बाहुक ने कहा—'नरेश्वर! मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि मैं एक ही दिन में आपको वहाँ पहुँचा दूँगा।'–ऐसा कहकर उस ने रथ तैयार किया। राजा ऋतुपर्ण उस पर सवार हुए। वार्ष्णेय सारथि को भी रथ पर बैठा लिया गया। तदनन्तर बाहुक ने रथ को हाँक दिया। घोड़े हवा से बात कर रहे थे। रास्ते में बातचीत के दौहरान में बाहुक को पता लगा कि राजा ऋतुपर्ण द्यूत–विद्या और गणित में अत्यन्त निपुण हैं। राजा ने बाहुक के अश्वविद्या के रहस्य उन्हें को बताने का प्रण करने पर

बदले में उसे द्यूत-विद्या का सम्पूर्ण रहस्य बतला दिया। द्यूत-विद्या का रहस्य जानने के अनन्तर नल के शरीर से कलियुग, जो कर्कोटक के विष से दिन-रात झुलसा करता था, निकल गया।

तदनन्तर शाम होते-होते राजा ऋतुपर्ण विदर्भ राज्य में जा पहुँचे। राजा भीम ने ऋतुपर्ण का स्वागत किया। रथ की घर्घराहट सुनकर दमयन्ती ने मन-ही-मन विचार किया—'अहो! रथकी वह घर्घराहट इस पृथ्वी को गुँजाती हुई जिस प्रकार मेरे मन को प्रसन्नता प्रदान कर रही है, उससे जान पड़ता है कि महाराज नल ही पधार आये हैं। आज यदि असंख्य गुणों से विभूषित तथा चन्द्रमा के समान मुखवाले वीरवर नल को न देखूँगी तो अपने इस जीवन का अन्त कर दूँगी।'

राजा ऋतुपर्ण कुण्डिनपुर में ठहर गये। उन्हें बार-बार देखने पर भी वहाँ स्वयम्बर जैसी कोई चीज नहीं दिखायी दी। राजा ऋतुपर्ण राज-सेवकों के साथ राजा के बताये हुए भवन में विश्राम के लिये चले गये। वार्ष्णेय सहित ऋतुपर्ण के चले जाने पर बाहुक रथ लेकर रथशाला में गया। उसने अश्वों को खोलकर उनकी परिचर्या की और वह स्वयं भी रथ के पिछले भाग में जा बैठा। दमयन्ती ने नल का पता लगाने के लिए अपनी दूती को बुलाकर कहा—'केशिनी! जाओ और पता लगाओ कि यह छोटी-छोटी बाहों वाला कुरूप रथ-वाहक, जो रथ के पिछले भाग में बैठा है, कौन है?'

केशिनी बाहुक के पास गयी और दमयन्ती के परामर्श के अनुसार उससे बातें की और अन्त में पर्णाद ब्राह्मण वाली बात दौहरायी और कहा 'बाहुक! ब्राह्मण के मुख से यह वचन सुन कर पहले आपने जो उत्तर दिया था, उसी को दमयन्ती आपके मुँह से पुनः सुनना चाहती हैं।'

केशिनी के ऐसा कहने पर राजा नल के हृदय में बड़ी वेदना हुई। उनकी दोनों आँखें आँसुओं से भर गयीं और उन्होंने गद्गद् वाणि में पुन: यों कहना प्रारम्भ किया—'उत्तम कुल की स्त्रियाँ बड़े भारी संकट में पड़कर भी स्वयं अपनी रक्षा करती हैं। ऐसा करके वे स्वर्ग और सत्य दोनों पर विजय पा लेती हैं। श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतियों से परित्यक्त होने पर भी कभी क्रोध नहीं करतीं। वे सदा सदाचार रूपी कवच से आवृत प्राणों को धारण करती हैं। उस पुरुष ने बड़े संकट में पड़कर ही अपनी पत्नी का त्याग किया है, तो इसके लिये पत्नी को उस पर क्रोध नहीं करना चाहिये।'

तदनन्तर केशिनी ने आकर बाहुक की कही हुई सारी बातें और उसके मनोविकारों को ठीक-ठीक कह सुनाया। तदनन्तर उसने नल के द्वारा तैयार किये फलों के गूदे को लाकर दमयन्ती को दिया। दमयन्ती ने उसे चखकर अपने प्राणपति को पहचान लिया। फिर उसने केशिनी के साथ अपने बच्चों को बाहुक के पास भेजा। बाहुक ने दोनों बच्चों को पहचान कर अपनी गोद में ले लिया। उन्हें देखकर उनके नेत्रों से आँसू बहने लगे। बाहुक ने केशिनी से कहा—'भद्रे! ये दोनों बालक मेरे पुत्र और पुत्री के समान हैं, इसलिये इन्हें देख कर सहसा मेरे नेत्रों में आँसू बहने लगे। अब तुम महलों में चली जाओ, नहीं तो लोग दोष की आशङ्का कर लेंगे।

केशिनी ने जाकर सब बातें दमयन्ती को बता दीं। दमयन्ती ने अपनी माता और पिता की आज्ञा से नल को राजभवन के भीतर जहाँ वह स्वम् रहती थीं, बुलवाया। दमयन्ती को सहसा सामने उपस्थित देख राजा नल शोक और दु:ख से व्याप्त हो नेत्रों से आँसू बहाने लगे। दमयन्ती भी उनकी यह दशा देखकर

शोक से व्याकुल हो गयी। तदनन्तर मलिन वस्त्र पहने, जटा धारण किए मैल और पंक से मलिन दमयन्ती ने बाहुक से पूछा- 'बाहुक ! तुमने पहले किसी ऐसे धर्मज्ञ पुरुष को देखा है, जो अपनी सोयी हुई पत्नी को वन में अकेली छोड़कर चले गये थे। पुण्यश्लोक महाराज नल के सिवा दूसरा कौन होगा, जो एकान्त में थकावट के कारण अचेत सोती हुई अपनी निर्दोष प्रियतमा पत्नी को छोड़कर जा सकता हो ?'

दमयन्ती जब इस प्रकार बातें कह रही थी, उस समय नल के नेत्रों से शोक-जनित दुःखपूर्ण आँसूओं की धारा लगातार बहती जा रही थी। उन्होंने कहा—'भीरू ! मेरा जो राज्य नष्ट हो गया और मैंने जो तुम्हें त्याग दिया, वह सब कलियुग की करतूत थी। मैंने स्वयं कुछ नहीं किया। वह कलि तुम्हारे शाप से दग्ध हो सदा मेरे भीतर रहता था। अब वह परास्त हो चुका है। अतः अब हमारे दुःखों का अन्त हो जाना चाहिये। पापी कलियुग मुझे छोड़कर चला गया, इसी से मैं तुम्हारी प्राप्ति का उद्देश्य लेकर यहाँ आया हूँ। भीरु ! कोई भी स्त्री कभी अपने अनुरक्त एवं भक्त पति को त्यागकर दूसरे पुरुष का वरण कैसे कर सकती है, जैसा कि तुम करने जा रही हो ?'

दमयन्ती ने हाथ जोड़ कर कहा—'प्राणनाथ ! मैंने आपको खोज निकालने के लिये ही यह सब कुछ किया था। नरेश्वर ! मैं यह अच्छी तरह जानती हूँ कि इस जगत् में आपके सिवा दूसरा कोई पुरुष ऐसा नहीं है, जो एक ही दिन में सौ योजन दूर तक जाने में समर्थ हो। वायु, सूर्य और चित्त के अभिमानी देवता चन्द्रमा, जो समस्त प्राणियो के साक्षी हैं, यदि मैंने पाप किया हो तो, वे मेरे प्राणों का हरण करलें।'

तदनन्तर वायु देवता ने आकाशवाणी के रूप में कहा—

'नल ! मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, इस दमयन्ती ने कभी कोई पाप नहीं किया है । तुम्हारी प्राप्ति के लिये दमयन्ती ने यह अनुपम उपाय ढूँढ निकाला था ।'

यह देखकर राजा नल ने दमयन्ती के विरुद्ध होने वाली शङ्का को त्याग दिया और उसने नागराज कर्कोटक का स्मरण कर के उसके दिये हुए पुराने वस्त्र को ओढ लिया । इससे उन्हें अपने पूर्वरूप की प्राप्ति हो गयी । यह देखकर दमयन्ती उनके हृदय से लगकर उच्च स्वर से रोने लगी । पुरुषसिंह नल भी बहुत देर तक शोक-मग्न खड़े रहे ।

दमयन्ती के माता-पिता यह सब जानकर बहुत प्रसन्न हुए । प्रातः काल राजा नल वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो दमयन्ती के साथ राजा भीम से मिले । उन्होंने विनीत भाव से श्वसुर को प्रणाम किया । तत्पश्चात् शुभ-लक्षणा दमयन्ती ने भी पिता की वन्दना की । राजा भीम ने बड़ी प्रसन्नता के साथ नल को पुत्र की भाँति अपनाया और नल सहित पतिव्रता दमयन्ती का यथायोग्य आदर सत्कार करके उन्हें आश्वासन दिया । विदर्भनगर में राजा नल को इस प्रकार आया देख हर्ष में भरी जनता का महान् आनन्द-जनित कोलाहल होने लगा । अनेक प्रकार से नगर में उत्सव मनाये गये । राजा ऋतुपर्ण ने भी जब सुना कि 'बाहुक के वेष में राजा नल ही थे और अब वे दमयन्ती से मिले हैं', तब उन्हें बड़ा हर्ष हुआ । उन्होंने राजा नल को बुलवाकर उनसे क्षमा माँगी । बुद्धिमान् नल ने भी अनेक युक्तियों द्वारा उनसे क्षमा याचना की । राजा नल ने ऋतुपर्ण को अश्वविद्या प्रदान की । राजा ऋतुपर्ण निषधनरेश नल को पुनः द्यूत विद्या का रहस्य समझा कर दूसरा सारथि साथ ले अपने नगर को चले गये ।

राजा नल एक मास तक कुण्डिनपुर में रह कर राजा भीम की आज्ञा ले थोड़े से सेवकों सहित वहाँ से निषध-देश की ओर रवाना हुए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने अपने भाई पुष्कर से जूआ खेल कर अपना खोया हुआ समस्त राज्य, रत्न और खजाना जीत लिया। पुष्कर ने अपने प्राणों की भी बाजी लगा दी थी, इस प्रकार वह भी पूर्ण रूप से नल के अधिकार में आ गया। नल ने अपने छोटे भाई से कहा—'**मैं कलियुग के किये हुए अपराध को किसी तरह तेरे मत्थे नहीं मढ़ूँगा। तू सुख-पूर्वक जीवित रह। मैं तेरे प्राण तुझे वापिस देता हूँ। तेरा सारा सामान और तेरे हिस्से का धन भी तुझे लौटाये देता हूँ। वीर! तेरे ऊपर मेरा पूर्ववत् प्रेम बना रहेगा।**'

इस प्रकार महाराज नल जूआ खेलने के कारण अपनी पत्नी सहित महान् संकट में पड़ गये थे, किन्तु सती-शिरोमणि दमयन्ती के प्रभाव से उन्हें पुनः राज्य लक्ष्मी की प्राप्ति हुई। कर्कोटक नाग, दमयन्ती, नल तथा राजर्षि ऋतुपर्ण की चर्चा कलियुग के दोष का नाश करने वाली है।

३–महारानी गान्धारी

गान्धारी गान्धार-राज सुबल की पुत्री थी। जब गान्धारी को पता लगा कि उसके माता-पिता अन्धे धृतराष्ट्र के साथ उसका विवाह करना चाहते हैं, तो उसने रेशमी वस्त्र लेकर उसके कई तह करके उसी से उसी समय अपनी आँखे बाँध लीं। वे बड़ी पतिव्रता थीं, उन्होंने मनमें दृढ प्रण कर लिया था कि मैं अपने पति की अपेक्षा अच्छी दशा में कभी न रहूँगी। यह पट्टी उसने कभी नहीं खोली और उसकी मृत्यु तक वैसे ही बँधी रही। उसने निश्चय कर लिया था कि मैं सदा पति के अनुकूल रहूँगी और उनके दोष कभी नहीं देखूँगी। उसने अपने उत्तम

स्वभाव तथा सद्व्यवहारों से समस्तकौरवों को प्रसन्न कर लिया। वह अपने गुरुजनों की सेवा में कभी कुछ कसर न रहने देती थी। उसने सब से प्रेम भाव रक्खा।

इन्होंने पाण्डवों को आधा राज्य देकर सन्धि करने के लिये दुर्योधन को भी बहुत समझाया था। महाभारत के युद्धमें जाते समय जब दुर्योधन प्रतिदिन इनके पास आकर प्रणाम करता और विजयी होने का आशीर्वाद माँगता तो ये सदैव यही कहा करती थीं कि **'बेटा ! जहाँ धर्म होगा, वहीं विजय होगी।'**

समस्त पुत्रादिकों के मारे जाने पर प्रणाम करते हुए राजा युधिष्ठिर के पैरों की अङ्गुलियों के अग्रभाग को इन्होंने पट्टी के भीतर से ही देख लिया। इतने से ही उनके नख काले पड़ गये। इसके पहले उनके नख बड़े ही सुन्दर और दर्शनीय थे।

महाभारत के युद्ध के समस्त दोषों का भगवान् श्रीकृष्ण में आरोपण करते हुए इन्होंने कहा—'गोविन्द ! तुमने आपसमें मार-काट मचाते हुए कुटुम्बी कौरवों और पाण्डवों की उपेक्षा की है, इसलिये तुम अपने भाई-बन्धुओं का भी विनाश कर डालोगे। मधुसूदन ! आज से छत्तीसवाँ वर्ष उपस्थित होने पर तुम्हारे कुटुम्बी, मन्त्री और पुत्र सभी आपस में लड़कर मर जाँयगे। तुम सबसे अपरिचित और लोगों की आँखों से ओझल होकर अनाथ के समान वन में विचरोगे और किसी निन्दित उपाय से मृत्यु को प्राप्त होओगे।'

ठीक छत्तीसवाँ वर्ष उपस्थित होने पर सब यादव आपस में ही लड़-भिड़कर नष्ट होगये और भगवान् श्रीकृष्ण की मृत्यु का कारण भी एक व्याध का बाण बना। यह था माता गान्धारी के पातिव्रत्य धर्म का प्रभाव !

ये अपने पति धृतराष्ट्र के साथ वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर और वनमें जाकर तपस्या-परायण जीवन विताने लगीं। वहाँ धृतराष्ट्र और कुन्ती देवी के साथ गङ्गा द्वार में दावानल से दग्ध हो गयी थीं। धृतराष्ट्र के साथ इन्हें कुबेर के दुर्लभ लोकों की प्राप्ति हुई थी।

४–देवी द्रौपदी

द्रौपदी पाँच पाण्डवों की पत्नी होते हुए भी आदर्श पतिव्रता नारि थी। एक समय दुर्वासा ऋषि, दुर्योधन के सिखाने पर पाण्डवों को नष्ट करने के विचार से, वन में युधिष्ठिर के पास उस समय आये जब द्रौपदी भोजन कर चुकी थीं। यह द्रौपदी के पातिव्रत्य धर्म का ही प्रभाव था, कि जब तक द्रौपदी भोजन नहीं करतो थी, तब तक सूर्य के दिये हुए पात्र से चाहे जितने व्यक्तियों को भोजन कराया जा सकता था। आर्य-नारि के धर्म के अनुसार द्रौपदी अतिथियों, ब्राह्मणों, बड़े-बूढों आदि सबको भोजन कराने के उपरान्त ही भोजन करती थीं।

द्रौपदी तो अपने पातिव्रत्य धर्म के बल पर भगवान् को भी दो बार खैंच लायी थीं—एक बार कौरव सभा में दुःशासन द्वारा वस्त्र-हरण के समय और दुबारा दुर्वासा के आगमन पर। पतिव्रता नारि क्या नहीं कर सकती? वह असम्भव को भी सम्भव कर देती है।

भगवान् श्री कृष्ण की कृपा से जब दुर्वासा और उनकी दस हजार शिष्य मण्डली ने स्नान करते समय अपने पेटों को फूला हुआ पाया तो दुर्वासा यह कहते हुए, **'हमने सती द्रौपदी को बेकार में ही भोजन बनाने का कष्ट दिया, कहीं वह हमें श्राप न दे दें', अपनी शिष्य मण्डली के साथ भाग छूटे।** बेचारे सहदेव उन्हें

पुकार रहे हैं और वे तो सुनते ही नहीं, भाग ही जा रहे हैं! सती का शाप ऐसा ही होता है!

• •

द्रौपदी आदर्श पतिव्रता नारि थी। भगवान् श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा ने एक समय एकान्त में द्रौपदी से प्रश्न किया—'दौपदी! महावली पाण्डवों को तुम्हारे प्रेम के वशीभूत देखकर मुझे आश्चर्य होता है। कृष्णे! यह बताओ कि किस व्रत, मन्त्र या औषधि से तुमने उनको इस प्रकार वशीभूत किया है, जिससे मैं भी श्यामसुन्दर को अपने वश में करके तुम्हारे ही समान सौभाग्यवती बन सकूँ।'

द्रौपदी ने कहा—'सखी! तुमने जिन उपायों की बातें कही, वे नीच स्त्रियों के ही करने की हैं। इस प्रकार का प्रश्न अथवा स्वामी के स्नेह में सन्देह करना तुम्हारी जैसी साध्वी स्त्रियों के लिए कदापि उचित नहीं है। जब पति को यह मालूम हो जाय कि उसकी पत्नी उसे वश में करने के लिए किसी मन्त्र-तन्त्र अथवा जड़ी-बूँटी का प्रयोग कर रही है, तो वह कभी शान्त और सुखी नहीं रह सकता।

'यशस्विनी सत्यभामे! मैं स्वयं महात्मा पाण्डवों के साथ जैसा बर्ताव करती हूँ, वह सब सच-सच बताती हूँ, सुनो। मैं पाण्डवों की दूसरी स्त्रियों के साथ कभी बुरा बर्ताव नहीं करती। अभिमान छोड़कर पतियों की इच्छा के अनुसार सदा काम करती हूँ। कभी कोई मेरे मुँह से बुरी बात न निकल जाय—इस बात का सदा खयाल रखती हूँ। असभ्य की भाँति कभी खड़ी नहीं होती। निर्लज्ज की तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती। इशारा पाते ही मैं सबकी बराबर सेवा करती हूँ। पतियों और उनके सेवकों को भोजन कराये बिना मैं कभी भोजन नहीं करती। घर के सब सामान को साफ एवं व्यवस्था से रखती हूँ। ठीक समय पर स्वादिष्ट भोजन स्वयं अपने

हाथ से तैयार करती हूँ। दुष्ट स्त्रियों के सम्पर्क से सदा दूर रहती हूँ। आलस्य को कभी पास नहीं आने देती। पति के किए हुए परिहास के सिवा अन्य समय में मैं नहीं हँसा करती। दरवाजे पर बार-बार खड़ी नहीं होती। नीच पुरुषों से बात नहीं करती। मनमें असन्तोष को स्थान नहीं देती और परायी चर्चा से दूर रहती हूँ। न अधिक हँसती हूँ और न अधिक क्रोध करती हूँ। क्रोध का अवसर ही नहीं आने देतीं। सदा सत्य बोलती और पतियों की सेवा में लगी रहती हूँ। मेरे स्वामी जब कभी कुटुम्ब के कार्य से परदेश चले जाते हैं, उन दिनों में शृंगार नहीं धारण करती। अपनी सास की कभी निन्दा नहीं करती×। और अपने आपको सदा नियन्त्रण में रखती हूँ। गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा से ही मेरे पति मेरे अनुकूल रहते हैं।

'तुम्हारे पति तुम्हारे निकट जो भी बातें कहें, वे छिपाने योग्य न हों, तो भी तुम्हें उनको गुप्त ही रखना चाहिए। पतिदेव के जो प्रिय, अनुरक्त एवं हितैषी सुहृद् हों, उन्हें तरह-तरह के उपायों से खिलाओ–पिलावो तथा जो उनके शत्रु, उपेक्षणीय और अहितकारक हों अथवा जो उनसे छल-कपट करने के लिए उद्यत रहते हों, उनसे सदा दूर रहो।'

×श्री जगत्जननी सीताजी भी वन जाते समय अपनी सास माता कौशल्याजी से कहती है:—

तब जानकी सासु पग लागी। सुनिअ माय मैं परम अभागी ॥
सेवा समय देऊँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा ॥
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करम कठिन कछु दोसु न मोहू ॥

दोहा–सीतहिं सासु असीस सिख दीन्हि अनेक प्रकार।
चली नाइ पद पदुम सिरु अति हित बारहिं बार ॥

—रामचरित मानस

'अत्यन्त ऊँचे कुल में उत्पन्न और पापाचार से दूर रहनेवाली स्त्रियों के साथ ही तुम्हें सखीभाव स्थापित करना चाहिए। जो अत्यन्त क्रोधी, नशे में चूर रहनेवाली, अधिक खानेवाली, चोरी की लत रखनेवाली, दुष्ट और चञ्चल स्वभाव की स्त्रियाँ हो, उन्हें दूर से ही त्याग देना चाहिए।'

५. शाण्डिली और सुमना का संवाद—
(पतिव्रता स्त्रियों के कर्तव्य)

केकयराज की पुत्री सुमना ने देवलोक में वहाँ निवास करने वाली, सम्पूर्ण तत्त्वों को जानने वाली सर्वज्ञा शाण्डिली देवी से पूछा—"कल्याणि! आपने किस वर्ताव अथवा किस सदाचार के प्रभाव से समस्त पापों का नाश करके देवलोक में पदार्पण किया है? आप अपने तेज से अग्नि की ज्वाला के समान प्रज्वलित हो रही हैं और चन्द्रमा की पुत्री के समान अपनी उज्ज्वल प्रभा से प्रकाशित होती हुई स्वर्गलोक में आयी हैं। आपकी मङ्गलमयी आकृति है, आप अपने तेज से सहस्र-गुनी शोभा पा रही हैं। थोड़ी-सी तपस्या, थोड़े से दान या छोटे-मोटे नियमों का पालन करके आप इस लोक में नहीं आयी हैं। अतः अपनी साधना के सम्बन्ध में सच्ची-सच्ची बात बताने की कृपा करें।

शाण्डिली ने नम्रता पूर्वक कहा—'देवि! मैंने गेरुआ वस्त्र नहीं धारण किया, वल्कल वस्त्र नहीं पहना, मूँड नहीं मुड़ाया और बड़ी-बड़ी जटाएँ नहीं रखायीं। मैंने तो सदा सावधान रहकर अपने पतिदेव के प्रति मुँह से कभी अहितकर और कठोर वचन नहीं निकाले हैं। मैं सदा सास-ससुर की आज्ञा में रहती तथा ब्राह्मणों की पूजा में सदा सावधान होकर लगी रहती थी। मैं किसी की चुगली नहीं खाती

थी। चुगली करना मेरे मनको बिल्कुल नहीं भाता था। मैं घर का दरवाजा छोड़ कर अन्यत्र नहीं खड़ी होती और देर तक किसी से बात नहीं करती।

'मैंने कभी एकान्त में या सामने किसी के साथ अश्लील परिहास नहीं किया तथा मेरी किसी क्रिया द्वारा किसी का अहित नहीं हुआ। यदि मेरे स्वामी किसी कार्य से बाहर जाकर फिर घरको लौटते तो मैं उठकर उन्हें बैठने के लिये आसन देती और एकाग्रचित्त हो उनकी पूजा करती थी। मेरे स्वामी जिस अन्न को ग्रहण करने योग्य नहीं समझते थे तथा जिस भक्ष्य, भोज्य या लेह्य आदि को वे पसन्द नहीं करते थे, उन सब को मैं भी त्याग देती थी।

सारे कुटुम्ब के लिये जो कुछ कार्य आ पड़ता, वह सब मैं सबेरे ही उठकर कर-करा लेती थी। मैं अग्निहोत्र की रक्षा करती और घर को लीप-पोत कर शुद्ध रखती थी। बच्चों का प्रतिदिन पालन करती और कन्याओं को नारी-धर्म की शिक्षा देती थी। अपने को प्रिय लगने वाली खाद्य वस्तुएँ त्याग कर भी गर्भ की रक्षा में सदा संलग्न रहती थी। बच्चों को शाप (गाली) देना, उन पर क्रोध करना अथवा उन्हें सताना आदि मैं सदा के लिये त्याग चुकी थी। मेरे घरमें कभी अनाज बिखरा नहीं पड़ा रहता था। मैं अपने घर में गौओं को घास-भूसा खिला कर, पानी पिला कर तृप्त करती थी और रत्न की भांति उन्हें सुरक्षित रखने की इच्छा रखती थी तथा शुद्ध अवस्था में आगे बढ़ कर मैं ब्राह्मणों को भिक्षा देती थी।

'यदि मेरे पति किसी आवश्यक कार्यवश कभी परदेश जाते तो मैं नियम से रहकर उनके कल्याण के लिये नाना प्रकार के मांगलिक कार्य किया करती थी। स्वामी के बाहर चले जाने पर मैं आँखों में

अञ्जन लगाना, ललाट में गोरोचन का तिलक लगाना, तैल आदि की मालिश कर के स्नान करना, फूलों की माला पहनना, अंगों में अंगराग लगाना तथा शृंगार करना पसन्द नहीं करती थी।

'जब स्वामी सुखपूर्वक सो जाते उस समय आवश्यक कार्य आ जाने पर भी मैं उनको कभी नहीं जगाती थीं। परिवार के पालन-पोषण के लिये भी मैं उन्हें कभी तंग नहीं करती थीं। घर की गुप्त बातों को सदा छिपाये रहती थीं।

'इसी प्रकार के व्यवहार से मुझे उत्तम लोकों की प्राप्ति हुई है।'

११. सन्तान के प्रति माता का कर्तव्य

(सन्तान को कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग पर लगाना)

[विदुलोपाख्यान]

विदुला नाम से प्रसिद्ध एक क्षत्रिय महिला हो गयी हैं, जो उत्तम कुल में उत्पन्न, यशस्विनी, तेजस्विनी, मानिनी, जितेन्द्रिय, क्षत्रिय धर्म-परायणा और दूरदर्शिनी थी। राजाओं की मण्डली में उनकी बड़ी ख्याति थी। वे अनेक शास्त्रों को जानने वाली और महापुरुषों के उपदेश सुनकर उनसे लाभ उठाने वाली थीं। एक समय उनका पुत्र सिन्धुराज से पराजित हो अत्यन्त दीन-भाव से घर आकर सो रहा। राज-रानी विदुला अपने उस औरस पुत्र को इस दशामें देखकर उसकी बड़ी निन्दा करती हुई बोलीं:—

विदुला बोली—'अरे! तू मेरे गर्भ से उत्पन्न हुआ है, तो भी मुझे आनन्दित करने वाला नहीं है। तू तो शत्रुओं का ही हर्ष बढाने वाला है। तू नाम मात्र का पुरुष है। तेरे मन आदि सभी साधन नपुंसकों के समान हैं। अरे! अब भी उठ और अपने कल्याण के लिये पुनः युद्ध का भार वहन कर।

'अपने को दुर्बल मानकर स्वयं ही अपनी अवहेलना न कर, इस आत्मा का थोड़े धन से भरण-पोषण न कर, मन को परम कल्याणमय बनाकर उसे शुभ संकल्पों से सम्पन्न करके निडर हो जा, भय को सर्वथा त्याग दे।

'ओ कायर! उठ, खडा हो, इस तरह शत्रु से पराजित होकर घर में शयन न कर अर्थात् उद्योग शून्य न हो। तू

शत्रु रूपी साँप के दाँत तोड़ता हुआ तत्काल मृत्यु को प्राप्त हो जा। प्राण जाने का सन्देह हो, तो भी शत्रु के साथ युद्ध में पराक्रम ही प्रकट कर।

'तू थोड़ी देर के ही लिये सही, शत्रु के सामने महान् पराक्रम प्रकट कर। दो घड़ी भी प्रज्वलित रहना अच्छा, परन्तु दीर्घकाल तक धूआँ छोड़ते हुए सुलगना अच्छा नहीं। किसी भी राजा के घर में अत्यन्त कठोर अथवा अत्यन्त कोमल स्वभाव के पुरुष का जन्म न हो।

'विद्वान् पुरुष को अभीष्ट फल की प्राप्ति हो या न हो, वह इसके लिए शोक नहीं करता। वह अपनी पूरी शक्ति के अनुसार प्राण-पर्यन्त निरन्तर चेष्टा करता है और अपने लिये धन की इच्छा नहीं करता।

'बेटा! तू धैर्य और स्वाभिमान का अवलम्बन कर। अपने पुरुषार्थ को जान और तेरे कारण डूबे हुए इस वंश का तू स्वयं ही उद्धार कर। जिसके महान् और अद्भुत् पुरुषार्थ एवं चरित्र की सब लोग चर्चा नहीं करते हैं, वह मनुष्य अपने द्वारा जन-संख्या की वृद्धि-मात्र करने वाला है। मेरी दृष्टि में न तो वह स्त्री है और न पुरुष ही।

'दान, तपस्या, सत्य-भाषण, विद्या तथा धनोर्पाजन में जिसके सुयश का सर्वत्र बखान नहीं होता है, वह मनुष्य अपनी माता का पुत्र नहीं, मल-मूत्र मात्र ही है।

'संसार की कोई भी नारी ऐसे पुत्र को जन्म न दे, जो अमर्ष-शून्य, उत्साह-हीन, बल और पराक्रम से रहित तथा शत्रुओं का आनन्द बढाने वाला हो।

पुत्र बोला—'मा! यदि तू मुझे न देखे तो यह सारी पृथ्वी मिल जाने पर भी तुझे क्या सुख मिलेगा?

विदुला बोली—'बेटा ! आज क्या भोजन होगा ?—इस प्रकार की चिन्ता में पड़े हुए दरिद्रों के जो लोक हैं, वे हमारे शत्रुओं को प्राप्त हों और सर्वत्र सम्मानित होने वाले पुण्यात्मा पुरुषों के जो लोक हैं, उनमें हमारे हितैषी सुहृद् पधारें।

'संजय ! भृत्य-हीन, दूसरों के अन्न पर जीने वाले, दीन-दुर्बल मनुष्यों की वृत्ति का अनुसरण न कर। तात ! जैसे सब प्राणियों की जीविका मेघ के अधीन है तथा जैसे सब देवता इन्द्र के आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण तथा हितैषी सुहृद् तेरे सहारे जीवन-निर्वाह करें।

'संजय ! पके फलवाले वृक्षके समान जिस पुरुष का आश्रय लेकर सब प्राणी जीविका चलाते हैं, उसी का जीवन-सार्थक है। जैसे इन्द्र के पराक्रम से सब देवता सुखी रहते हैं, उसी प्रकार जिस शूरवीर पुरुष के बल और पुरुषार्थ से उसके भाई-बन्धु सुखपूर्वक उन्नति करते हैं, बस संसार में उसी का जीवन श्रेष्ठ हैं।

'संजय ! युद्ध से हमारे पूर्वजों का अथवा मेरा कोई लाभ हो या हानि, युद्ध करना क्षत्रियों का धर्म है, ऐसा समझ कर उसी से मन लगा, युद्ध बन्द न कर।

'यदि किसी ब्राह्मण के माँगने पर मैं उसकी अभीष्ट वस्तु के लिये 'नाहीं' कह दूँगी, तो उस समय मेरा हृदय विदीर्ण हो जायगा। आज तक मैंने या मेरे पतिदेव ने किसी ब्राह्मण से 'नाहीं' नहीं की है। हम सदा लोगों के आश्रयदाता रहे हैं, दूसरों के आश्रित कभी नहीं रहे; परन्तु अब यदि दूसरे का आश्रय लेकर जीवन धारण करना पड़े तो मैं ऐसे जीवन का परित्याग ही कर दूँगी।

'सफलता होगी ही, ऐसा मन में दृढ विश्वास लेकर निरन्तर विषाद-रहित होकर तुझे उठना, सजग होना और ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने वाले कर्मों में लग जाना चाहिये[१]।

'शत्रु को ज्यों ही यह मालूम हो जाता है कि उसका विपक्षी प्राणों का मोह छोड़ कर युद्ध करने के लिये तैयार है, तभी घर में रहने वाले सर्प की भाँति उसके भय से वह उद्विग्न हो उठता है[२]।

'अब तू पुरुषार्थ कर। मैं तेरा पराक्रम देखूँगा[३]।'

पुत्र बोला—'माँ! मेरा यह राज्य शत्रुरूपी जल में डूब गया है, अब मुझे इसका उद्धार करना है, नहीं तो युद्ध में शत्रुओं का सामना करते हुए अपने प्राणों का त्याग कर देना है[४]।'

यह कह कर वह माता को प्रणाम कर युद्ध की तैयारी में जुट गया[५]।

१—उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु ॥
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा सततमव्यथैः ।
—उद्योग० १३५।२९

२—यदैव शत्रुर्जानीयात् सपत्नं त्यक्तजीवितम् ।
तदैवास्मादुद्विजते सर्पाद् वेश्मगतादिव ॥
—उद्योग० १३५।३६

३—यदेतत् संविजानासि यदि सम्यग्ब्रवीम्यहम् ।
कृत्वासौम्यमिवात्मानं जयायोत्तिष्ठ संजय ॥
—उद्योग० १३६।८

४—उदके भूरियं धार्या मर्तव्यं प्रवणे मया ।
यस्य मे भवती नेत्री भविष्यद्भूतिदर्शिनी ॥
—उद्योग० १३६।१३

५—अतृप्यन्नमृतस्येव कृच्छ्राल्लब्धस्य बान्धवात् ।
उद्यच्छाम्येष शत्रूणां नियमाय जयाय च ॥
—उद्योग० १३६।१५

१२. मित्र-धर्म

१. मित्रता कैसे और किन के साथ करें—

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ।।

(शां० २६६।६९)

'चिरकाल तक सोच-विचार कर के किसी के साथ मित्रता जोड़नी चाहिये और जिसे मित्र बना लिया, उसे एकदम नहीं छोड़ना चाहिये। यदि छोड़ने की आवश्यकता पड़ ही जाय तो उसके परिणाम पर चिरकाल तक विचार कर लेना चाहिये। **दीर्घकाल तक सोच-विचार कर के बनाया हुआ जो मित्र है, उसी की मैत्री भी चिरकाल तक टिक सकती है।'**

अमित्रो मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति ।
सामर्थ्ययोगात् कार्याणामनित्या वै सदा गतिः ।।

(शा० १३८।१३)

भीष्मजी कहते हैं—'भिन्न-भिन्न कार्यो का ऐसा प्रभाव पड़ता है, जिसके कारण कभी शत्रु भी मित्र बन जाता है और कभी मित्र का मन भी द्वेष भाव से दूषित हो जाता है। वास्तव में शत्रु-मित्र की परिस्थिति सदा एक सी नहीं रहती है,— (अतः खूब विचार लेने पर ही किसी को मित्र बनाना चाहिये)।

वेदितव्यानि मित्राणि विज्ञेयाश्चापि शत्रवः ।
एतत् सुसूक्ष्मं लोकेऽस्मिन् दृश्यते प्राज्ञसम्मतम् ।।

(शां० १३८।१३७)

'मित्रों को भी जानना चाहिये, शत्रुओं को भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये—इस जगत् में मित्र और शत्रु की यह पहचान अत्यन्त सूक्ष्म तथा विज्ञ-जनों को अभिमत है।

श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः ।।

(शा० १३८।४६)

'विद्वान् शत्रु भी अच्छा है, किन्तु मूर्ख मित्र भी अच्छा नहीं है।'

लुब्धः क्रूरस्त्यक्तधर्मा निकृतिः शठ एव च ।
क्षुद्रः पापसमाचारः सर्वशङ्की तथालसः ।।
दीर्घसूत्रोऽनृजुः क्रुष्टो गुरुदारप्रधर्षकः ।
व्यसने यः परित्यागी दुरात्मा निरपत्रपः ।।
सर्वतः पापदर्शी च नास्तिको वेदनिन्दकः ।
सम्प्रकीर्णेन्द्रियो लोके यः कामं निरतश्चरेत् ।।
असत्यो लोकविद्विष्टः समये चानवस्थितः ।
पिशुनोऽथाकृतप्रज्ञो मत्सरी पापनिश्चयः ।।
दुःशीलोऽथाकृतात्मा च नृशंसः कितवस्तथा ।
मित्रैरपकृतिर्नित्यमिच्छतेऽर्थं परस्य यः ।।
ददतश्च यथाशक्ति यो न तुष्यति मन्दधीः ।
अधैर्यमपि यो युङ्क्ते सदा मित्रं नरर्षभ ।।
अस्थानक्रोधनोऽयुक्तो यश्चाकस्माद् विरुध्यते ।
सुहृदश्चैव कल्याणानाशु त्यजति किल्विषी ।।
अल्पेऽप्यपकृते मूढस्तथाज्ञानात् कृतेऽपि च ।
कार्यसेवी च मित्रेषु मित्रद्वेषी नराधिप ।।
शत्रुर्मित्रमुखो यश्च जिह्मप्रेक्षी विलोचनः ।
न विरज्यति कल्याणे यस्त्यजेत् तादृशं नरम् ।।
पानपो द्वेषणः क्रोधीनिर्घृणः परुषस्तथा ।
परोपतापी मित्रध्रुक् तथा प्राणिवधे रतः ।।
कृतघ्नश्चाधमो लोके न संधेयः कदाचन ।
छिद्रान्वेषी ह्यसंधेयः संधेयानपि मे शृणु ।।

(शां. १६८। ६ से १६)

'जो लोभी, क्रूर, धर्मत्यागी, कपटी, शठ, क्षुद्र, पापाचारी, सब पर सन्देह करने वाला, आलसी, दीर्घसूत्री, कुटिल, निन्दित, गुरु-पत्नी-गामी, संकट के समय साथ छोड़कर चल देने वाला, दुरात्मा, निर्लज्ज, सब ओर पाप पूर्ण दृष्टि डालने वाला, नास्तिक, वेदों की निन्दा करने वाला, इन्द्रियों को खुला छोड़कर जगत् में इच्छानुसार विचरने वाला, झूठा, सबसे द्वेष का पात्र, अपनी प्रतिज्ञा पर स्थिर न रहने वाला, चुगलखोर, अपवित्र बुद्धिवाला, ईर्ष्यालु, पापपूर्ण विचार रखने वाला, दुष्टस्वभाव वाला, मनको वश में न रखने वाला, नृशंस, धूर्त, मित्रों की बुराई करने वाला, सदा दूसरों का धन लेने की इच्छा वाला, यथा-शक्ति देनेवाले पर भी संतुष्ट न रहने वाला, मन्दबुद्धि, मित्र को भी सदा धैर्य से विचलित करने वाला, असावधान, बे-मौके क्रोध करने वाला, अकस्मात् विरोधी होकर कल्याणकारी सुहृदों को भी शीघ्र ही त्याग देनेवाला, अनजान में थोड़ा सा भी अपराध बन जाने पर मित्र का अनिष्ट करने वाला, पापी, अपना काम बनाने के लिए ही मित्रों से मेल रखने वाला, वास्तव में मित्र-द्वेषी, मुख से मित्रता की बातें करके भीतर से शत्रुभाव रखनेवाला, कुटिल दृष्टि से देखने वाला विपरीत-दर्शी, भलाई से कभी पीछे न हटनेवाले मित्र को भी त्याग देने वाला, शराबी, द्वेषी, क्रोधी, निर्दयी, क्रूर, दूसरों को सताने वाला, मित्र-द्रोही, प्राणियों की हिंसा में तत्पर रहने वाला, कृतघ्न तथा नीच हो, संसार में ऐसे मनुष्य के साथ कभी संधि (मित्रता) नहीं करनी चाहिये। जो दूसरों का छिद्र (दोष) खोजता हो, वह भी सन्धि (मित्रता) करने के योग्य नहीं है। अब संधि (मित्रता) करने के योग्य पुरुषों को बता रहा हूँ, सुनो।

तेषामप्यधमा राजन् कृतघ्ना मित्रघातकाः।
त्यक्तव्यास्तु दुराचाराः सर्वेषामिति निश्चयः।।

(शान्तिपर्व १६८।२७)

'(ऊपर जो दोष-युक्त मनुष्य बताये हैं) उन सब में अधम होते हैं- 'कृतघ्न'। वे मित्रों की हत्या तक कर डालते हैं। ऐसे दुराचारी नराधमों को दूर से ही त्याग देना चाहिये। यह सब का निश्चय है।'

यथाशक्ति समाचाराः सम्प्रतुष्यन्ति हि प्रभो।
नास्थाने क्रोधवन्तश्च न चाकस्माद् विरागिणः।
विरक्ताश्च न दुष्यन्ति मनसाप्यर्थकोविदाः॥
आत्मानं पीडयित्वापि सुहृत्कार्यपरायणाः।
विरज्यन्ति न मित्रेभ्यो वासो रक्तमिवाविकम्।
क्रोधाच्च लोभमोहाभ्यां नानर्थे युवतीषु च।
न दर्शयन्ति सुहृदो विश्वस्ता धर्मवत्सलाः॥
लोष्टकाञ्चनतुल्यार्थाः सुहृत्सु दृढबुद्धयः।
ये चरन्त्यभिमानानि सृष्टार्थमनुषङ्गिणः॥
संगृह्णन्तः परिजनं स्वाम्यर्थपरमाः सदा।
ईदृशैः पुरुषश्रेष्ठैर्यः संधिं कुरुते नृपः॥
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव।

(शान्ति पर्व १६८।२० से २४½)

'प्रभो! जो अपनी शक्ति के अनुसार कर्तव्य का ठीक-ठीक पालन करते और सन्तुष्ट रहते हैं, जिन्हें बे-मौके क्रोध नहीं आता, जो अकस्मात् स्नेह का त्याग नहीं करते, जो उदासीन हो जाने पर भी मन से कभी बुराई नहीं चाहते अर्थ के तत्व (रहस्य) को समझते हैं और अपने को कष्ट में डालकर भी हितैषी पुरुषों का कार्य सिद्ध करते हैं। जैसे रंगा हुआ ऊनी कपड़ा अपना रंग नहीं छोडता, उसी प्रकार जो मित्र की ओर से विरक्त नहीं होते हैं, जो क्रोधवश मित्र का अनर्थ करने में प्रवृत्त नहीं होते हैं तथा लोभ और मोह के वशीभूत हो मित्र की युवतियों पर अपनी आशक्ति नहीं दिखाते, जो मित्र के विश्वास-पात्र और धर्म के प्रति अनुरक्त हैं, जिनकी दृष्टि में मिट्टी का ढेला

और सोना दोनों एक हैं, जो सदा सुहृदों के प्रति सुस्थिर बुद्धि रखने वाले हैं, सबके लिये प्रमाणभूत शास्त्रों के अनुसार चलते हैं और प्रारब्ध-वश प्राप्त हुए धन में ही संतुष्ट रहते हैं, जो कुटुम्ब का संग्रह रखते हुए सदा अपने सुहृद् एवं स्वामी के कार्य-साधन में तत्पर रहते हैं—ऐसे श्रेष्ठ राजाओं के साथ राजा संधि (मेल) करता है, उसका राज्य उसी तरह बढ़ता है जैसे चन्द्रमा की चाँदनी।'

ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम्।
तयोर्विवाहः सख्यं च न तु पुष्टविपुष्टयोः॥

(आदि १३०।१०)

'जिनका धन समान है, जिनकी विद्या एक-सी है, उन्हीं में विवाह और मैत्री का सम्बन्ध हो सकता है (अर्थात् उत्तम है)। हृष्ट-पुष्ट और दुर्बल में, (धनवान् और निर्धन में) कभी मित्रता नहीं हो सकती।'

२—मित्र का धर्म ❀

व्यसने क्लिश्यमानं हि यो मित्रं नाभिपद्यते।
अनुनीय यथाशक्ति तं नृशंसं विदुर्बुधाः॥

(उद्यो० ९३।१०)

जो किसी व्यसन या विपत्ति में पड़कर क्लेश उठाते हुए मित्र को यथा-शक्ति समझा-बुझाकर उसका उद्धार नहीं करता है, उसे विद्वान् पुरुष निर्दय एवं क्रूर मानते हैं।'

❀श्री रामचरित–मानस में भगवान् श्रीराम मित्र-धर्म का आदर्श निम्न प्रकार बताते हैं :—

जे न मित्र दुख होंहि दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥

(आगे भी देखिये)

आकेशग्रणान्मित्रमकार्यात् संनिवर्तयन् ।
अवाच्यः कस्यचिद् भवति कृतयत्नो यथाबलम् ।।

(उद्यो० ९३।११)

'जो अपने मित्र को उसकी चोटी पकड़ कर भी बुरे कार्य से हटाने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है, वह किसी की निन्दा का पात्र नहीं है।'

ज्ञातीनां हि मिथो भेदे यन्मित्रं नाभिपद्यते ।
सर्व यत्नेन माध्यस्थ्यं न तन्मित्रं विदुर्बुधाः ।।

(उद्यो० ९३।१५)

'भाई-बन्धुओं में परस्पर फूट होने का अवसर आने पर जो मित्र सर्वथा प्रयत्न करके उनमें मेल कराने के लिये मध्यस्थता नहीं करता, उसे विद्वान् पुरुष मित्र नहीं मानते हैं।'

मित्रद्रोहो न कर्तव्यः पुरुषेण विशेषतः ।
मित्रध्रुङ् नरकं घोरमनन्तं प्रतिपद्यते ।।

(शान्ति पर्व० १७३।२१)

भीष्म-पितामह कहते हैं:—'मनुष्य को विशेष ध्यान देकर मित्र-द्रोह के पाप से बचना चाहिए। मित्र-द्रोही मनुष्य अनन्त काल के लिये घोर नरक में पड़ते हैं।'

जिन्ह के असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई ।।
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा ।।
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई ।।
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ।।
आगें कह मृदु बचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई ।।
जाकर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेंहि भलाई ।।
सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी ।।
सखा सोच त्यागहु बल मोरे। सब बिधि घटब काज मैं तोरे ।।

व्यसनान्नित्यभीतो यः समृद्धया यो न दुष्यति ।
यत् स्यादेवं विधं मित्रं तदात्मसममुच्यते ।।

(शांति पर्व ८०।२०)

'जो मित्र पर विपत्ति आने की सम्भावना से सदा डरता रहता है और उसकी उन्नति देखकर मन-ही-मन ईर्ष्या नहीं करता है, ऐसे मित्र को अपने आत्मा के समान बताया गया है।'

आर्तिरार्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् ।
विपरीतं तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ।।

(शांति पर्व १०३।५०)

मित्र के पीडित होने पर किसी को स्वयं भी पीडा होती हो और मित्र के प्रसन्न होने पर उसके मन में भी प्रसन्नता छाई रहती हो, यही अच्छे मित्र के लक्षण हैं। इसके विपरीत जो किसी को पीड़ित देखकर प्रसन्न होता और प्रसन्न देखकर पीड़ा का अनुभव करता है, तो समझना चाहिये कि यह शत्रु के लक्षण हैं। (अतः ऐसे लक्षणों वाला शत्रु है)।

दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते ।
भिन्ना श्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्तते ।।

(शांति पर्व १११।८५)

प्रेम का बन्धन बड़ी कठिनाई से टूटता है, पर जब वह एक बार टूट जाता है, तब बडी कठिनाई से जुड पाता है। जो प्रेम बारम्बार टूटता और जुड़ता है, उसमें स्नेह नहीं होता (अर्थात् ऐसे बारम्बार प्रेम जोड़ने और तोड़ने वाले सच्चे मित्र नहीं होते)।

३–विपत्ति के समय मित्रों से सलाह लेकर उसके अनुसार कार्य करना चाहिये—

मुह्यता तु मनुष्येण प्रष्टव्याः सुहृदो जनाः ।।
तत्रास्य बुद्धिर्विनयस्तत्रश्रेयश्च पश्यति ।
ततोऽस्य मूलं कार्याणां बुद्धया निश्चित्य वै बुधाः ।
तेऽत्र पृष्टा यथा ब्रूयुस्तत् कर्तव्यं तथा भवेत् ।।

(शांति० २।३०–३२)

'जब मनुष्य मोह के वशीभूत होकर हिताहित का निर्णय करने में असमर्थ हो जाय, तब उसे अपने सुहृदों से सलाह लेनी चाहिये। वहीं उसे बुद्धि और विनय (विशेष नीति) की प्राप्ति हो सकती है और वहीं उसे अपने हित का साधन भी दिखाई देता है। पूछने पर वे विद्वान् हितैषी अपनी बुद्धि से उसके कार्यों के मूल कारण का निश्चय करके जैसी सलाह दें, वैसा ही उसे करना चाहिए।'

४–मनुष्य के स्वभाविक एवं स्थायी मित्र

विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पञ्चमम् ।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्तीह तैर्बुधाः ।।

(शांति पर्व १३९।८५)

'विद्या, शूर-वीरता, दक्षता, बल और पांचवाँ धैर्य—ये पांच मनुष्य के स्वाभाविक मित्र बताये गये हैं। विद्वान् पुरुष इनके द्वारा ही इस जगत् में सारे कार्य करते हैं।'

५–आदर्श मित्र

(क) भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन—भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन परस्पर एक दूसरे के लिये प्राण तक देने के लिये तैयार हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयम् महाराज युधिष्ठिर से कहते हैं:—

तव भ्राता मम सखा सम्बन्धी शिष्य एव च ।
मांसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुनार्थे महीपते ।।
एष चापि नरव्याघ्रो मत्कृते जीवितं त्यजेत् ।
एष नः समयस्तात येम परस्परम् ।।

भीष्म पर्व० १०७।३३–३४

'हे राजन् आपके भाई अर्जुन मेरे मित्र हैं, सम्बन्धी हैं और शिष्य हैं। मैं अर्जुन के लिए अपने शरीर का मांस तक काटकर दे सकता हूँ। पुरुषसिंह अर्जुन भी मेरे लिए प्राण से सकते हैं। हे तात ! हम दोनों मित्रों की यह प्रतिज्ञा है कि परस्पर एक दूसरे को उबारें।'

(ख) **भगवान् श्रीकृष्ण और सुदामा**—जिस सुदामा की बालापन की मित्रता का ध्यान रखकर भगवान् श्रीकृष्ण बड़े प्रेम से गले मिलते हैं और बिना मित्र को जताये उसे अपने समान ही समृद्ध बना देते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी मैत्री को धन्य है।

(ग) **भगवान् श्रीरामचन्द्र और सुग्रीव**—भगवान् श्रीरामचन्द्र ने वालि जैसे प्रबल शत्रु से बैर मोल लेकर सुग्रीव का कार्य किया और सुग्रीव ने भी जी-जान से मित्र की पत्नी श्रीसीताजी की खोज कराने तथा उसे प्राप्त [illegible] की बाजी लगा दी। इसी प्रकार हमें भी [illegible] से करना चाहिये।

डॉ० स्वर्णलता, प्रधानाचार्या, महारानी सुदर्शना महाविद्यालय, बीकानेर लिखती हैं:—

"............ मेरा नम्र सुझाव है कि इस ग्रन्थ का उपयुक्त स्तरीय परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में उपयोग होना चाहिये, जिससे नयी पीढ़ी का मानव अनिवार्य रूप से इस पौराणिक कथा को पढ़कर लाभान्वित होते हुये राष्ट्रीय चरित्रोत्थान में योग दे सके।"

महाभारत सुधासागर पर कुछ सम्मतियाँ

(१)

"..........इस पुस्तक का मुख्यगुण यह है कि उपदेशप्रद अंशों को यथा सम्भव विस्तार से उद्धृत किए गए हैं और विषयवार लेने से पाठकों के लिए उनकी उपयोगिता बहुत बढ़ गयी है। जिस पहलू पर महाभारत के उपदेशों का सार पाठक को ग्रहण करना हो वही उसे अनुक्रमणिका को देखने से सहज ही उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को यदा-कदा थोड़ा-थोड़ा पढ़कर भी हिन्दी जानने वाले संस्कृत से अनभिज्ञ व्यक्ति भी आनन्द एवं लाभ प्राप्त कर सकते हैं। वैसे महाभारत हिन्दूधर्म की एनसाइक्लोपीडिया कहलाती है जो वास्तव में सत्य है। इसमें से सार ग्रहण कराने की सुविधा प्रदान करने वाले इस सुन्दर संकलन का मैं हृदय से स्वागत करता हूँ कि यह प्रकाशित होकर शीघ्र ही हिन्दी जगत् को लाभान्वित करेगा।"

अजमेर
२७-६-१९६७

ह० लक्ष्मीलाल जोशी
अध्यक्ष माध्यमिक शिक्षा बोर्ड,
राजस्थान

(२)

श्रीमान् के० माधव कृष्ण शर्मा, निदेशक संस्कृत शि राजस्थान सरकार लिखते हैः—

मैं श्री सूर्यनारायण जी द्वारा लिखे "**श्री महाभारत सु सागर**" को देखकर इनके परिश्रम की सराहना करता हूँ। इस प्र के संग्रह से साधारण जनता में महाभारत जैसे ग्रन्थ का प्रचार सम्भव है। इससे भारतीय संस्कृति के प्रति आस्था बढ़ेगी।

"मैं इस प्रयास से इनके उद्देश्यों की सफलता की कामना करता हूँ।"

श्री शंकर आर्ट प्रिण्टर्स, त्रिपोलिया, जयपुर।